मेरी असफलताएं

बाबू गुलाबराय

"मेरी असफलताएं" अनेक दृष्टियों से बाबू गुलाबरायजी की एक अनूठी कृति है। अन्य भाषाओं की बात हम नहीं जानते, आत्मकथा साहित्य में हिन्दी में अपनी शैली की सम्भवतः यह एक ही पुस्तक है। इसमें लेखक ने स्वयं को मूर्खता या अज्ञता का केन्द्र बिन्दु मानकर हास्य रस के आलम्बन रूप में चित्रित किया है, किन्तु फिर भी साहित्य के उच्च उद्देश्य "शिवेतरक्षतये" को उन्होंने निरन्तर अपने सामने रखा है। बाबूजी सच्चे अर्थों में एक साहित्यिक जीव थे। जीवन की विषम से विषम और दुःखमय परिस्थिति का उपयोग भी वे किस प्रकार साहित्यिक कार्यों के लिए कर लेते थे, इसका प्रमाण उनकी आत्मकथा "मेरी असफलताएं" है। पुस्तक के अभिधान से ही लेखक ने अपने इस मन्तव्य और केन्द्रीय भाव को व्यक्त कर दिया है कि इस आत्मकथा के नायक ने अपने जीवन की सफलताओं और उपलब्धियों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान अपनी असफलताओं और त्रुटियों को दिया है। उनके स्पष्ट और सत्य उल्लेख से इस आत्मकथा में कुछ ऐसा अद्भुत आकर्षण आ गया है कि कोई भी सहृदय मानव इसके नायक के प्रति श्रद्धा से प्रणत हो जाता है। वह उस अर्थ में हास्य रस का आलम्बन नहीं रहता, जिस रूढ़ और प्रचलित अर्थ में हम अपने को आश्रयरूप में प्रतिष्ठित कर हास्य की रस-चर्वणा करते हैं। यहां वर्णित हास्य के विभावानुभाव व्यभिचारि संयोग से जिस रस की निष्पत्ति होती है, उसमें से अंगीरस की भांति शान्त रस निरन्तर व्यंजित होता चलता है—लेखक हमें सतत रूप से मानवता की उस उच्च भूमि की ओर इंगित करता हुआ मिलता है जहां पहुंचकर कबीर ने कहा था—

कबिरा आप ठगाइए, और न ठगिए कोय।
आप ठगे सुख होत है, और ठगे दुःख होय।।

अपनी इस पुस्तक की भूमिका—"दो शब्द बक़लम खुद" में बाबूजी ने अपनी आत्मकथा लिखने के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"मेरे पास ख्यातनामा महापुरुषों के से कोई अमूल्य अनुभव, राजनीतिक रहस्य, साहित्यिक सेवाएं, जीवन-आदर्श और धार्मिक एवं नैतिक सिद्धान्त बतलाने को नहीं हैं, फिर मैं अपने पाठकों का धन और समय क्यों नष्ट करूं? "मन्दः कवि यशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्"। उपहास में भी मेरी लक्ष्य-सिद्धि है।

फ़ारसी में एक हिकायत है कि एक अक्लमन्द से किसी ने पूछा कि आपने अक्लमन्दी किससे सीखी? उत्तर मिला—"अज़ बेवकूफ़ाँ" अर्थात् मूर्खों से। ठीक इसी भाव को रखकर आप लोग भी इस पुस्तक से लाभ उठा सकेंगे।
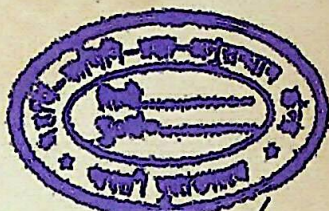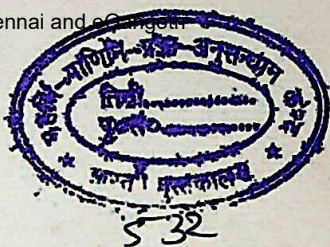
मेरी असफलताएं

बाबू गुलाबराय

आदरणीय
डा० प्रज्ञा देवी जी को
सादर भेंट

१८/१०/८५
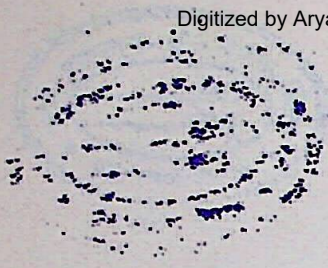
मूल्य	:	सौ रुपये (100.00)
संस्करण	:	1995
प्रकाशक	:	अलंकार प्रकाशन 3611, सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
शब्द-संयोजन	:	बुकमैन, शकरपुर, दिल्ली-92
मुद्रक	:	अरोड़ा ऑफसेट प्रेस, दिल्ली-92

MERI ASFALTAEIN
by Babu Gulab Rai

Rs. 100/-

दो शब्द—बकलम खुद

यह युग साम्यवाद का है। व्यावहारिक रूप से तो नहीं, सैद्धांतिक रूप से अवश्य गंगातेली राजाभोज की बराबरी कर सकता है। इसी समता भाव के कारण, समाज के अभिशाप गिने जाने वाले दीन-दलित, पतित और लांछित, अस्थिपंजरावशेष, जरा-जर्जरित, वैभव-विहीन मनुष्य भी आधुनिक काव्य के आलंबन बनते हैं। यदि मुझ जैसा कोई 'मति अति रंक, मनोरथ राऊ' व्यक्ति बिना किसी साधना और योग्यता के महात्मा गांधी, पंडित जवाहरलाल नेहरू, डाक्टर रवींद्रनाथ ठाकुर या रायबहादुर डाक्टर श्यामसुंदरदासजी की भांति आत्मकथा का नायक बनकर अपने को पांचवां सवार गिने जाने की स्पर्द्धा करे तो सहृदय पाठकगण उसको युग की प्रवृत्ति का शिकार समझ कर दया और उदारता के साथ क्षमा करेंगे।

मेरे पास ख्यातिनाम महापुरुषों के से कोई अमूल्य अनुभव, राजनीतिक रहस्य, साहित्यिक सेवाएं, जीवन-आदर्श और धार्मिक एवं नैतिक सिद्धांत बतलाने को नहीं हैं, फिर मैं अपने पाठकों का धन और समय क्यों नष्ट करूं? 'मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपाहस्यताम्'। उपहास में भी मेरी लक्ष्य-सिद्धि है।

फारसी में एक हिकायत है कि एक अक्लमंद से किसी ने पूछा कि आपने अक्लमंदी किससे सीखी? उत्तर मिला—'अज बेवकूफाँ' अर्थात् मूर्खों से। ठीक इसी भाव को रखकर आप लोग भी मेरी पुस्तक से लाभ उठा सकेंगे। मुझे इतना ही खेद है कि बेवकूफी करने में मैं अपने शिकारपुरी मित्र की भांति फर्स्ट डिवीजन न पा सकूंगा। इस क्षेत्र में भी मैं साधारण (mediocre) से ऊंचा नहीं उठ सका हूं। मुझे अपने मिडियोकर होने पर गर्व है क्योंकि उसमें मेरे बहुत से साथी हैं। 'मर्गे अम्बोह जश्न दारद' अर्थात् बहुत से लोगों की एक साथ मृत्यु, उत्सव का रूप धारण कर लेती है। खैर, मैं अपनी समाज-प्रियता में इस सीमा तक तो न जाऊंगा, लेकिन सबसे आगे जाकर अकेला रहना मुझे रुचिकर नहीं। 'दिल के बहलाने को गालिब यह खयाल अच्छा है'।

वैसे तो 'निज कवित्त' की भांति 'निज चरित केहि लाग न नीका, सरस होउ अथवा अति फीका' किंतु मैं अपने गुण-दोषों से भली-भांति परिचित हूं और फीके को सरस बतलाने का साहस नहीं कर सकता। बड़े आदमियों के चरित्र में इतनी बड़ी-बड़ी बातें रहती हैं कि

उनके लिए किसी को कवि बना देना सहज संभाव्य है। मुझ से तो वे बातें कोसों दूर हैं। वे शायद मेरे उच्छृंखलतम स्वप्नों के क्षेत्र से भी बाहर हैं। किंतु मुझे अपने तुच्छ जीवन में कुछ हास्य और मनोरंजन की सामग्री मिली है, उसको आपके सामने रखने का मोह संवरण नहीं कर सकता। मैं रत्नों से तो नहीं, कांच की मणियों से आपका मनोरंजन करना चाहता हूं। आप सच्चे वेदांतियों के भांति कंचन को मिट्टी न समझ कर मिट्टी में कंचन देखिए।

आत्मकथा-लेखक के दो व्यक्तित्व होते हैं, एक चरितनायक का, दूसरा लेखक का। इसमें चरितनायक के व्यक्तित्व में कोई आकर्षण नहीं। लेखक के व्यक्तित्व के संबंध में यदि 'आपुन करनी, भांति बहु बरनी' की बात न समझी जाए तो मैं कहूंगा कि इसमें साहित्यिक हास्य का काफी मसाला मिलेगा। जो लोग इसमें धौल-धप्पे का और हू-हक का हास्य देखना चाहेंगे, उनको शायद निराश होना पड़े।

मैंने आप लोगों के मनोरंजन के लिए स्वयं अपने को ही बलि का बकरा बनाया है। यदि मेरे साथ दो-एक सज्जन भी लपेटे में आ गये हों तो उनसे मैं हार्दिक क्षमा चाहता हूं। मैं अपने जीवन की असफलताओं पर स्वयं हंसा हूं। यदि आप इस पुण्य-कार्य में मेरा सहयोग देंगे तो मैं अपनी असफलताओं के वर्णन में अपने को सफल समझूंगा। मुझे अपने पाठकों की सहृदयता पर विश्वास है। भवभूति की तरह शायद मुझे यह न कहना पड़े कि 'उत्पत्स्यते ममतु कोऽपि समानधर्मा कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।' जब लोग बिना निमंत्रण के ही हंसने को तैयार रहते हैं तब वे इस सादर निमंत्रण की अवहेलना न करेंगे—ऐसी मुझे आशा है। यदि मैं बुधजनों की अथवा अबुध जनों की भी प्रसन्नता का साधन बन सकूं तो अपने को धन्य मानूंगा।

'जो प्रबंध नहिं बुध आदरहीं। सो श्रम वाद बालकवि करहीं।'

—गुलाबराय

गोमती-निवास, आगरा
माघ शुक्ला 4, सं. 2014

तृतीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक के दूसरे संस्करण को समाप्त हुए प्रायः पांच या छः वर्ष हो चुके हैं। तब से उसके पुनः प्रकाश में न आने का कुश्रेय मेरी अवस्था के साथ कदम मिलाये हुए चलने वाले आलस्य को है। मेरे प्रकाशक महोदय पर भी मेरे आलस्य की छाया पड़ी रही। उनका अंकुश ढीला रहा, नहीं तो यह कभी की प्रकाश में आ गई होती। इसको मैं अपने जीवन की अव्यवस्था कहूं या पुस्तक की लोकप्रियता कहूं कि प्रेस कापी के लिए एक भी प्रति उपलब्ध न हो सकी। यही बात महेन्द्रजी और मेरे आलस्य को प्रोत्साहन देती रही। पुस्तक की उपलब्धता अनुसंधान का विषय बन गई। उसे मेरे कनिष्ठ पुत्र विनोद ने खोजकर निकाला।

यद्यपि यह परम संतोष की बात है कि स्फुट रूप से इस पुस्तक के वैयक्तिक निबंध पाठ्य पुस्तकों के संपादकों की कृपा और गुणग्राहकतावश संग्रहीत हो जाने के कारण विद्यार्थीगण मुझे रीझ या खीझ के साथ स्मरण कर लेते हैं तथापि पुस्तक को अधिक काल तक विस्मृति के गर्त में पड़े रहने देना और उसको एक विस्तृत पाठक समुदाय के परिचय से वंचित रखना उसके साथ और अपने साथ अन्याय करना होता। पुस्तक की सार्थकता उसके पढ़े जाने में है। फूल वही जो महेश पर चढ़े। इस पुस्तक में मेरा आत्मचरित है। इसमें चाहे मेरी असफलताएं ही क्यों न हों। इसका संबंध मेरे अहं से है। 'आत्मनः कामाय सर्वे प्रियं भवति' इस न्याय से इसके महत्व की अधिक उपेक्षा न की जा सकी। इसी दृष्टि से मैंने अपने आलस्य पर विजय पाकर इसका संशोधन और परिवर्द्धन किया है। समय बीतने के साथ जितने परिवर्तन मुझमें आए उतने ही परिवर्तन इस पुस्तक में होने आवश्यक हो गये। इस संस्करण में मैंने अपने दोषों की आत्मस्वीकृति एवं अपने जीवन दर्शन के भी दो अध्याय बढ़ा दिये हैं। एक स्केच मैंने अपने नापिताचार्य का भी दे दिया है, जिनके गुण दोष मेरे अनुरूप ही थे।

इसमें मेरे गुण दोषों के साथ मेरी शैली के गुण दोषों का समावेश हो गया है। इस पुस्तक के निबंध मेरी शैली का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। भगवान की सृष्टि की भांति यह पुस्तक भी गुणदोषमय है। इस पुस्तक को जैसी है तैसी अपने सहृदय पाठकों को सौंपता हूं।

जड़ चेतन गुणदोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहि पय, परिहरि वारि विकार।।

—गुलाबराय

क्रम

"बालस्तावत् क्रीडासक्तः"

जब मैं बालक था

यद्यपि मेरी वहुत-सी चीजों की भांति मेरी जन्म-पत्री लापता है, तथापि यदि आप मेरा विश्वास करें तो मेरे जीवन की सबसे बड़ी असफलता यह थी कि मैंने वसन्त-पंचमी[1] से एक दिन पहले इस पृथ्वी को भाराक्रान्त किया। मेरे जीवन का श्रीगणेश ही कुछ गलत हुआ किन्तु इतना संतोष है कि पीछे आने की अपेक्षा आगे आना श्रेयस्कर है। इसमें अग्रदूत कहे जाने की संभावना रहती है। यदि मैं बड़ा आदमी होता और यदि मेरा जीवन-वृत्त किसी सच्चे या झूठे भक्त ने लिखा होता तो वह ऐसी ही बात कह देता।

मेरा जन्म इटावे में हुआ था। मुहल्ले का तो नाम सुना है, उसे छपैटी कहते हैं, लेकिन उस घर का पता नहीं लगा सका जिसमें मेरा जन्म हुआ था। यह प्रयत्न अपने को महत्ता देने के कारण नहीं वरन् शुद्ध कौतूहल और मनोविनोद के लिए किया गया था। मेरे पूज्य पिताजी (बाबू भवानीप्रसाद) इटावे में नौकर थे। वहां से उनकी बदली होने पर मैं ढाई वर्ष की आयु में मैनपुरी लाया गया। मैनपुरी के लोग धोखेबाज कहे जाते हैं। मुझे इसका निजी अनुभव तो नहीं है किन्तु उसके सम्बन्ध में जनश्रुति यह है कि-"मैनपुरी बगल में छुरी, खायें सतुआ बतावें पुरी।" पर उसका कुछ अच्छा इतिहास भी है? मैनपुरी के पास धारानगरी है जिसे धारऊ कहते हैं। किन्तु 'बीती ताहि बिसारि दे' का पाठ पढ़ते मैं इतिहास को भूल गया हूं। इतना अवश्य याद है कि उस नगरी में कोई राजा मैन रहते थे। उनके नाम पर ही मैनपुरी का नामकरण हुआ था। मैं हंस तो नहीं हूं जो 'पय पियय परिहरि वारि विकार'। मेरा मन तो विकार की ओर ही अधिक जाता है। अस्तु इसी नगरी में बाल्यकाल बीता। यदि उस नगरी में दोष है तो उसके लिए मैं लज्जित भी नहीं क्योंकि भारत की मोक्षदायिनी सप्त पुरियों में अग्रगण्य काशी के सम्बन्ध में भी जनश्रुति कुछ अच्छी नहीं है। जनश्रुति तो क्या? सम्मत हरिभक्त-पथ के अनुगामी, धर्मभीरु बाबा तुलसीदास ने काशी के सम्बन्ध में स्वयं कहा है 'बासर ढासन के ढका रजनी चहुं दिस चोर'—फिर बेचारी मैनपुरी किस

---

1. सं० 1944

गिनती में है? लोक (Locke) के मन की भांति इटावे के जीवन के सम्बन्ध में मेरा स्मृति पटल बिल्कुल कोरा है। यदि दार्शनिक शब्दावली का व्यवहार करूं तो वह टेब्युला राजा (Tabula Rasa) है। इसका अर्थ भी कोरी पट्टी है। मैनपुरी के प्रारम्भिक जीवन की कुछ धुंधली-सी स्मृति है, जैसी कभी-कभी भूत-विद्यावादी फोटोग्राफरों की तसवीरों में किसी प्रेतात्मा की छाया आ जाती है। उस रूपरेखा-विहीन स्मृति को देखते हुए मैं यह कह सकता हूं कि लोग यदि पूर्व जन्म की बातें भूल जाते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं है। सम्भव है कि मेरे प्रारम्भिक जीवन में कोई आकर्षक बात न रही हो। फ्रायड साहब यदि जिन्दा होते तो यही व्याख्या देते। अदालत के सत्यमूर्ति, सत्यावतार गवाह की (जो सत्य, पूर्ण सत्य और सत्य के अतिरिक्त और कुछ न कहने की शपथ खाता है; और न जाने क्या-क्या खाता है) तो प्रतिस्पर्धा मैं नहीं कर सकता। मैं गंगा तुलसी भी नहीं उठाऊंगा। अधार्मिक होते हुए भी दोनों का आदर करता हूं और न मैं मुंह में सोना डाले हुए हूं। किन्तु स्मृति को कल्पना से यथासम्भव अतिरंजित न करूंगा।

हम लोग एक ब्राह्मणी बुढ़िया के घर के दूसरे भाग में रहते थे। उनका नाम था दिबारी की मां। मैं अपेक्षाकृत अभावों की दुनिया में पला था। न तो मेरी महत्वाकांक्षाएं ही बढ़ी थीं और न सुविधाओं का अभाव था। 'चाहिए अमी जग जुरै न छाछी' की तो बात न थी, फिर भी मैं उन बालकों में से न था जो गर्व से कह सकें कि मेरा जन्म सम्पन्न घराने में हुआ था। 'I was born with a silver spoon in my mouth'[1] मेरे यहां चांदी की चम्मच तो क्या, पीतल का भी न होगा। यदि मुझको ऊपरी दूध भी मिल गया हो तो सिपी से, जो मोती की भी जन्मदात्री है। खैर मुझे गरीबी के कारण कभी-कभी रसना का संयम करना पड़ता था। दिबारी आलू-कचालू की चाट बेचा करता था। मुझे याद है कि मैं एक बार चाट के लिये मचला था। दिबारी को पड़ोसी-धर्म और मैत्री-धर्म का उपदेश दिया था। 'भाई बांट कर खाया करो'—ऐसी ममता भरी शिक्षा भी उसे दी थी। जब वह सब 'कामी वचन सती मन जैसे' बेकार गये तब माता से पैसे के लिए अनुनय-विनय की और फिर कहीं अपनी रुचि की तृप्ति कर सका था। अच्छे खाने की कमजोरी श्रवण समीप ही नहीं, सारे बाल सफेद प्रायः हो जाने पर भी बनी हुई है। उस घर की बाल-क्रीड़ाओं में अंधे बनकर चलने और चाईं-माईं खेलने की मुझे स्पष्ट स्मृति है। इस बात का उल्लेख अपनी माताजी से बार-बार सुनने से उसकी स्मृति और भी उभार में आ गई थी।

---

1. पण्डित जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा।

घर का वातावरण धार्मिक था। माताजी सूर और कवीर के पद गाया करती थीं। मुझ पर प्रह्लाद की कथा का बड़ा प्रभाव था। मुझे पूरा विश्वास था कि 'राम कृपा कछु दुर्लभ नाहीं'। विल्ली के बच्चे-अवश्य कुम्हार के अवे में जिन्दा वच गये होंगे—होंगे क्यों कहूं—थे कहना सत्य के अधिक निकट होगा। एक वार पड़ोस में जाकर एक कुम्हार से पूछा भी था कि क्या वह विल्ली जो उसके पास वैठी हुई थी, अवे में से निकली थी। 'तोमें मोमें खडग खम्व में' राम का अस्तित्व वताने में मुझे प्रसन्नता होती थी। 'कर्पूर गौरं करुणावतारं संसारसारं भुजंगेन्द्रहारं' भगवान शिव को और 'शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं' ठाकुरजी को श्रद्धा-भक्ति पूर्वक दण्डवत करने में परमानन्द का अनुभव करता था। उत्तरकालीन वुद्धिवाद ने उस आनन्द को मिट्टी में मिलाकर अभी तक कोई ऐसी वस्तु नहीं दी है जिसके कारण मैं सांसारिक सुखों और महत्वाकांक्षाओं को भूल जाऊं और इधर-उधर न भटकूं। हां मेरी यह विनयभावना अव इधर-उधर संसार में विखर गई है। अब तो मैं सभी को 'सियाराम मय' जानकर 'जोर-जुग पाणी' प्रणाम करता हूं। लेकिन जिनसे कुछ स्वार्थ है, उन्हीं के प्रति यह बुद्धि अधिक रहती है। 'छोटे मुंह वड़ी वातें' कहना मुझे वहुत प्रिय था और इसी कारण मैं प्रायः मूर्ख भी वन जाता था। मैं समझता था कि जिस प्रकार सरसों से तेल निकलता है, उसी प्रकार गेहूं से घी निकलता है क्योंकि गेहूं सरसों से अधिक कीमती होता है। भेड़िए को मैं भेड़ का बच्चा कहा करता था।

मेरे पड़ोस में एक बढ़ई महाशय रहते थे। उनका नाम था सुखराम। वे बड़े धार्मिक थे। अब वे जीवित नहीं हैं। पिछली बार जव मैं मैनपुरी गया था तव उन्होंने कहा था 'कल्लि के लला बूढ़े हुइ गये'। उनके चबूतरे पर नीम के नीचे रामायण सुनना मुझे वड़ा अच्छा लगता था। लोग कहते थे कि मैं वड़ा भक्त बनूंगा लेकिन बड़ा होकर मैंने उनकी आशाओं पर पानी फेर दिया। फिर भी उसका असर अव भी कुछ वाकी है। धार्मिक वातों का मैं आदर करता हूं। खेल-कूद में विशेष रुचि न थी किन्तु उसके नाम से विल्कुल अछूता न था क्योंकि खेल-कूद के पक्ष में जो बातें कही जाती थीं, वे मुझे अच्छी लगती थीं। उनमें से दो बातें अब भी याद हैं। ''ओनामासी धम, बाप पढ़े ना हम'' (उस समय मैं यह नहीं जानता था कि 'ओनामासी धम' जैनियों की देन है—'ओऽम् नमः सिद्धाणं'।) 'खेलोगे कूदोगे होगे नवाब, पढ़ोगे लिखोगे होगे खराब'। धार्मिक होते हुए भी पढ़ने-लिखने से मैं जी चुराता था अवश्य, लेकिन बहुत नहीं। मुझे कभी कोई घसीट कर मदरसे नहीं ले गया।

खेल कई किस्म के होते हैं। उनमें वे खेल मुझे पंसद नहीं थे जो दो-चार बालक मिलकर खेलते हों। इसका कारण यह था कि मेरे और छोटे भाई-बहिन नहीं थे। इसलिए एकांत के खेल अच्छे लगते थे—जैसे कागज के आदमी या जानवर बनाना। जौनपुर का काजी तो

गधे को आदमी बना देता था, किंतु एक बार मैंने अपने पिता के एक मित्र के नुसखे का आदमी बना दिया, बड़ी डांट-फटकार पड़ी। दियासलाई के बक्सों की रेल बनाना आदि के खेल अच्छे लगते थे। अपने पड़ोसी मिस्त्रीजी के यहां से लकड़ी की गिट्टक बटोर लाता था और उनके पुल बनाता था। मुझे बैठे रहना अधिक पसंद था, जब जबरदस्ती भगाया जाता था तभी भागता था। स्वास्थ्य के बारे में मेरे पिताजी अधिक सचेत रहते थे किंतु खराबी यह थी कि स्कूल के सबक की तरह ही भाग-दौड़ का काम मुझसे लिया जाता था। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, मैं स्वयं आंख मींच कर चलना और चाई-माई फिरना अधिक पसंद करता था। कभी-कभी अंधा बनकर भीख मांगने का अभिनय करता था। एक बार मैं ननसाल गया हुआ था, वहां वास्तव में लाड़-प्यार में पढ़ना-लिखना तो ताक में रख दिया होगा। उनका अर्थ मैं यह समझा था कि मेरा बस्ता तिखाल में रक्खा है। मैंने अपनी माता से पूछा कि बस्ता तिखाल में न रक्खूं तो क्या खूंटी से लटकाऊं?

पढ़ने-लिखने के संबंध में यह कह सकता हूं कि पढ़ने में तो मुझको रुचि थी, लिखने में नहीं। मेरे पिताजी ने मेरे पढ़ाने में बहुत दिलचस्पी ली। उन्होंने मेरी कई बुरी आदतों को उंगलियों पर पैंसिल मार-मार कर, जबरदस्ती छुड़ाया। मैं उंगलियों पर गिनती गिना करता था। उंगलियों पर गिनने से मन में जोड़ लगाना नहीं आता। खराब लिखने पर मैं बहुत पिटा हूं। खराब लिखना तो नहीं छूटा लेकिन हरफ कुछ स्पष्ट लिखने लगा था। उन दिनों ताड़ना का अधिक महत्व था। ताड़ना की एक खराबी तो यह रही कि जितना शरीर स्वस्थ बालक का बनना चाहिए था उतना नहीं बना लेकिन उसके साथ कई गुण भी आये। वे यह कि पराई चीज न लो और दूसरों का आदर करो।

*****

मार्शल ला

"लालने वहुवो दोषाः ताड़ने बहुवो गुणाः"

Spare the rod spoil the child.

मेरी प्रारम्भिक शिक्षा

यद्यपि उन दिनों प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने का या निरक्षरता-निवारण का कोई आंदोलन नहीं चल रहा था, तब भी मैं घर बैठ कर मौज न उड़ा सका। पढ़े-लिखे घरों में तो शायद विद्यारंभ संस्कार उतना ही जरूरी है जितना कि विवाह, शायद उससे भी ज्यादा क्योंकि विवाह का बंधन कुछ दिन टल भी जाता है लेकिन शिक्षालय का जेलखाना तो बच्चे के खेलने-खाने के दिनों में ही तैयार कर दिया जाता है। विद्यानिधि भगवान रामचंद्र और कलानिधि भगवान कृष्ण को भी गुरु-गृह जाकर विद्याओं और कलाओं के अध्ययन की खानापूरी करनी पड़ी थी। यदि आपको विश्वास न हो तो बाबा तुलसीदास जी का प्रमाण दे सकता हूं। 'गुरु-गृह पढ़न गये रघुराई' अगर आप झगड़ा करेंगे तो श्रीमद्भागवत का भी प्रमाण दे दूंगा, कृष्ण भगवान ने चौंसठ दिनों में कलाएं सीखी थीं। सांदीपन मुनि का नाम तो उनके शिष्यत्व के कारण ही अमर हुआ।

मेरे पिता सरकारी नौकर थे। उर्दू से उन्हें द्वेष न था। इतना ही नहीं, वे उसका पढ़ना जरूरी समझते थे क्योंकि उन दिनों बिना उर्दू-ज्ञान के पासपोर्ट के सरकारी नौकरी के क्षेत्र में प्रवेश करना असंभव-सा था। तो भी कुछ धार्मिक संस्कार के कारण मेरी शिक्षा का प्रारंभ 'बिस्मिल्ला इररहमानुर्रहीम' से नहीं हुआ। पगड़ी-अँगरखे से सुसज्जित एक पंडितजी आये। उनका नाम पंडित लालमणि था। वे अपने नाम के आगे शर्मा-वर्मा कुछ नहीं लिखते थे। 'विद्यारंभे विवाहे च' के अनुसार उन्होंने गणेशजी के बारह नामों[1] का उच्चारण किया। मुझसे

---

1. बारह नाम इस प्रकार हैं—

सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलो गजकर्णकः
लम्वोदरश्च विकटो विघ्ननाशो विनायकः
धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो भालचन्द्रो गजाननः।

हाथ पकड़कर 'श्रीगणेशायनमः' लिखाया गया। उस समय मैं चित्र लिपि की बात तो नहीं जानता था, लेकिन मेरा विश्वास हो गया था कि श्री का संबंध गणेशजी की मूर्ति से है। श्री में भी एक सूंड़-सी रहती है।

अक्षरारम्भ कुछ घर पर हुआ, कुछ पाठशाला में। मुझे मालूम नहीं अक्षर-ज्ञान कराने में किसको कितना श्रेय है। हां, इतना अवश्य याद है कि मुझे कोई किताब नहीं दी गई थी। पट्टी पर बुद्दके से लिखना चाहे उतना वैज्ञानिक और कलात्मक न हो जितना कि अनार और अमरूद से 'अ' का वोध कराना, किंतु मेरा विश्वास है कि लिखने में हाथ की पेशियों का अक्षरों के आकार से परिचित हो जाना अक्षर-बोध में अधिक सहायक होता है। उस पाठशाला में एक लड़का था, जिसको टीकू कहते थे। 'माया तेरे तीन नाम परसा, परसी, परसराम' वाली बात के अनुसार विकास-क्रम में टीकू उसके नाम की दूसरी ही श्रेणी थी, अभी वह टीकाराम नहीं बन सका था। वह रामायण अच्छी पढ़ता था। उस समय उसकी तरह से रामायण पढ़ लेना मेरी शिक्षा-संबंधी महत्वाकांक्षाओं की चरम सीमा थी। खेद है कि उस उच्चतम शिखर की छांह तक नहीं छू पाया हूं।

पाठशालाएं उस समय भी पिछड़ चुकी थीं। तहसीली स्कूलों और मकतबों का बोलबाला था। जब तक पाठशाला में पढ़ा, तब तक तो मेरे ऊपर दण्ड विधान लागू नहीं हुआ, शायद तब तक 'पंचवर्षाणि लालयेत्' की बात चल रही थी। यद्यपि उस समय मेरी उम्र शायद छः वर्ष की हो गई थी लेकिन तहसीली स्कूल में आते ही दंड-विधान दावे के साथ शुरू हुआ। रवि बाबू ने अपने प्रारम्भिक शिक्षकों की तुलना गुलाम बादशाहों के शासन से की थी। मैं उनको गुलाम कहने की क्षुद्रता नहीं करूंगा। रवि बाबू बड़े हैं, समर्थ हैं—'समरथ को नहिं दोष गुसाईं, रवि, पावक, सरिता की नाईं'—लेकिन मैं इतना अवश्य कहूंगा कि मेरे अध्यापक 'दंडधारी' अवश्य थे। वे संन्यासी तो थे नहीं (क्योंकि वे कमंडल नहीं धारण करते थे) इसलिए वे राजा ही थे। मालूम नहीं रामराज्य में उस्ताद लोग दंड का प्रयोग करते थे या नहीं। मुझे बाबा तुलसीदासजी की 'दंड-जतिन कर' वाली उक्ति में संदेह है। उस जमाने में भी शायद उस्ताद लोग दंडधारी होते होंगे। अस्तु, स्कूली दंड-विधान में कान पकड़कर उठाना-बैठाना तो शायद रहमदिली का परिचय देना था। उस समय के अध्यापकों का दिमाग सजा के प्रकार सोचने में यूरोप के इन्क्विजिशन (Inquisition) से कुछ कम न था। एक अध्यापक महोदय ने तो एक किवाड़ को जोर से घुमा कर मेरे सर में मार कर अपनी उर्वरा बुद्धि का परिचय दिया था। कहीं उंगलियों में कलमें दबाते थे तो कहीं पेड़ से लटका देते थे। मुर्गा बनाना भी उस विधान की एक धारा में था, रूल डंडा तो उन लोगों का चलता था जो लकीर के फकीर थे या अधिक प्रतिभावान न थे, पुलिस वाले भी इन विधियों में

से कुछ का प्रयोग करते हैं। यह मैं नहीं कह सकता कि वे पुलिस वालों ने शिक्षा-विभाग से सीखीं या शिक्षा-विभाग ने पुलिस से। यह ऐतिहासिक अनुसंधान का विषय है और इस पर सहज ही में किसी को डाक्टर की पदवी मिल सकती है। जब स्वयं पितृदेव 'लालने बहुवः दोषाः ताड़ने बहुवा गुणाः' में विश्वास रखते थे तव अध्यापकों का क्या कहना हैं? मेरे पिताजी के हुक्के की निगाली की (यदि शुद्ध हिन्दी में कहूं तो काष्ठ नलिका की) कई बार मेरे पृष्ठ भाग पर परीक्षा हुई। वह पोली लकड़ी मेरे दधीच की हड्डियों से स्पर्धा करने वाले मेरुनाल का क्या मुकाबला करती? जिस पर भी मेरा लिखना न सुधरा और न हिज्जे ही दुरुस्त हुए। फारसी में सौ में पैंसठ नम्बर प्राप्त करने पर भी फारसी 'स्वाद' से लिखता था। अब भी मुझे अंग्रेजी के मामूली शब्दों के लिए डिक्शनरी की शरण लेनी पड़ती है।

झूठ बोलने पर मैंने बहुत मार खाई है। झूठ मैं शरारत करने के लिए नहीं बोलता था। शरारत मुझसे बहुत दूर थी, उस कठोर शासन में शरारत के लिए गुंजाइश कहां? किंतु उस समय छोटे से संसार की समस्याएं इतनी जटिल थीं कि विना झूठ बोले उनका सुलझाना मुश्किल हो जाता था। वेंत का भय ही झूठ का जनक था। बहुत कोशिश करने पर भी मैं खुशखती की कापियां न लिख पाता था, फिर झूठ के सिवा और क्या चारा था? यही कारण हैं कि मैं महात्मा गांधी न वन सका।

तहसीली स्कूल के पश्चात मैं अंग्रेजी शिक्षा के लिए जिला स्कूल में भर्ती हुआ। वहां अंग्रेजी के साथ उर्दू दिलाई गई। अंग्रेजी की अतिरिक्त शिक्षा पिताजी ने दी और उर्दू की अतिरिक्त शिक्षा के लिए मकतब जाना पड़ा। मेरे पिताजी को कन्ज्यूगेशन आफ वर्ब्स (क्रियाओं का भूत, भविष्य और वर्तमान कालीन रूप और पुरुष याद करना) में बहुत विश्वास था। अंग्रेजी तो मैं अब पहले से कुछ अच्छी बोल लेता हूं लेकिन अब मैं एक साथ Tense (लकार या काल) नहीं गिना सकता। उन्होंने 'होना' (verb to be) का कन्ज्यूगेशन याद कराया था। कोई-कोई verb to love का भी कन्ज्यूगेशन पढ़ाते थे, शायद verb to be (मैं-हूं, मैं-हूं) का मंत्र रटने के कारण ही यह व्याधि-मंदिर-शरीर[1] अभी तक डटा हुआ है। फल यह हुआ था कि मैं पांचवीं-छठी जमात से ही अंग्रेजी बोलने लग गया था। इस कारण अंग्रेजी हैडमास्टर थोड़े खुश हो गये थे (मैं पीछे से मिशन स्कूल में पढ़ने लग गया था) और कभी-कभी मैं उसी कारण बेंत की ताड़ना से बच भी जाता था।

मेरे मौलवियों में दो को छोड़कर और सब मार्शल ला में विश्वास रखते थे। मौलवी मियांदाद खां जवान थे और इसलिए उनकी मार में भी जवानी का जोश था।

---

1. आगे इस पर भी एक लेख पढ़िये।

उर्दू मैंने डायरेक्ट मैथड (direct method) से पढ़ी। पहले मैं सबक रटकर याद कर लेता था। पीछे से मुझे अक्षरबोध हुआ। जिस दरजे में भरती हुआ उसमें अलिफ बे नहीं पढ़ाई जाती थी। अलिफ बे लिखना आ गया, फिर तख्ती की लिखाई शुरू हुई। तख्ती की लिखाई की बदौलत मुझे फारसी की एक बेत का मिसरा अब भी याद है, 'कलम गोयदां क मन शाहे जहानम्' शायद उसी की उपचेतना (Subconscious) में रह जाने के कारण मैंने लेखक-वृत्ति धारण की है और यद्यपि बहुत ऊंचा तो नहीं पहुंचा, पर पददलित भी नहीं हुआ।

मौलवी नबावखां अत्तारी की दुकान करते थे। मैं उनकी दुकान पर पढ़ने जाया करता था। जब स्याही का पानी चुक जाता था तब वे अर्क गुलाब, अर्क वादियां या अर्क गाजवां डाल दिया करते थे। मौलवी असदुल्लाखां भी बड़े नेक थे। उन्होंने फारसी के व्याकरण पर मेरी बड़ी श्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। मैंने आठवें दर्जे तक फारसी पढ़ी। नवें दर्जे में जब अरबी पढ़ने का सवाल आया तब मैं घबरा उठा। उस समय मैं यह नहीं जानता था कि फारसी आर्य भाषा वर्ग में है और अरबी सेमेटिक वर्ग में—लेकिन अरबी मुझे प्रकृति के विरुद्ध लगी। मेरा वैसा गला न था जैसा अरबी पढ़ने वालों का होता है। प्रश्न यह हुआ कि साइंस लूं या संस्कृत। दोनों में मेरी समान रुचि थी, क्योंकि दोनों का संबंध सरस सकार से था। साइंस पिताजी ने नास्तिक हो जाने के भय से नहीं लेने दी। संस्कृत ली, और खुशी से ली—मेरे संस्कृत के अध्यापक थे पं. गिरिजाशंकर मिश्र (वे शायद अब भी जीवित हैं) यद्यपि वे भौगांव के निवासी थे (तब मैं मैनपुरी में पढ़ता था) तथापि बड़े प्रतिभाशाली थे। आर्यसमाजी पंडितों से मोर्चा लेने की वे ही योग्यता रखते थे। जिस प्रकार नया मुसलमान अल्ला ही अल्ला पुकारता है, मैं भी समय-कुसमय 'मया त्वया' की संस्कृत बोलने लग गया। अपनी संस्कृत के पीछे मैंने दो पंडितों में शास्त्रार्थ करा दिया। एक मेरे प्रयोग को अशुद्ध बताते थे और दूसरे सही। भूतकाल के स्थान पर मेरे वर्तमानकालिक प्रयोग को उन्होंने ठीक बतलाया। जिन पंडित ने मेरा प्रयोग अशुद्ध बताया था, उन विचारों का स्वर्गवास हो गया है (हालांकि इस मामले में मेरा जरा भी हाथ नहीं) और जिन्होंने मेरा प्रयोग ठीक बतलाया वे जीवित हैं। संस्कृत ले लेने के कारण मौलवी साहब ने मेरा नाम 'विभीषण' रख छोड़ा था। मैं उनसे कह देता था कि अगर आप रावण बनते हैं तो मुझे विभीषण बनने में कोई ऐतराज नहीं। वास्तव में वे बड़े सज्जन थे।

ऐन्ट्रेन्स की शिक्षा में मेरे ऊपर जो सबसे अधिक प्रभाव पड़ा, वह एक बंगाली ईसाई हैडमास्टर का। उनका नाम था एन.सी. मुकर्जी। वे अंग्रेजी के एम.ए. थे, संस्कृत अच्छी जानते थे। साइंस भी जानते थे क्योंकि वे वड़े मनोरंजक प्रयोग दिखलाया करते थे। विमशर्ट मशीन से उन्होनें बिजली के धक्के का हम लोगों को अनुभव कराया था। उन्होंने ही विज्ञान में मेरी रुचि उत्पन्न की थी। उनका हास्य भी बड़ा मधुर था। एक लड़का बड़ा मोटा था।

एक रोज वह किसी साधारण से प्रश्न का उत्तर न दे सका तो वे कहने लगे, 'आकारसदृशः प्रज्ञः।' यह वाक्य महाराज दिलीप के लिए कालिदास ने कहा है किंतु मुकर्जी महोदय का अर्थ था जैसा मोटा शरीर, वैसी ही मोटी अक्ल है। उन्होंने ही मुझे लूज सेन्टेन्स और पीरियड का अंतर बताया था। उनके ही प्रभाव से मुझे छोटी और सुंदर रचनाओं के लिए आदर हो गया था। (यह लेख उस प्रभाव के विरुद्ध है।) परिमाण (Quantity) की अपेक्षा गुण (Quality) की कद्र करना मेरे ताऊ ला. बिहारीलाल जी ने मुझे सिखाया था। हम लोगों के यहां पसरट की दुकान होती थी। हमारे कुटुम्बी अब भी पुड़िया वाले कहलाते हैं। दिवाली से कुछ दिन पहले घर के सब लोग दिवाली की पूजा के लिए बेची जाने वाली पुड़िया तैयार कर रहे थे। एक पुड़िया में चन्दन चूरा डालते हुए उन्होंने कहा था—'चन्दन की चुटकी भली, भलौ न गाड़ी भरौ कबार।' मेरे पूछने पर उन्होंने मुझे उसका अर्थ भी समझाया था। उसका प्रभाव मेरे मन पर अभी तक है।

मुकर्जी साहब ने मेरा एक निबंध ठीक किया था—उसकी बहुत-सी बातें हिन्दी और अंग्रेजी दोनों तरह की रचना करने में सहायता देती रहीं। उन्होंने मुझे बतलाया था कि छोटे शब्द से वाक्य को खतम न करना चाहिए, और जहां एक शब्द छोटा हो और दूसरा बड़ा तो बड़े शब्द को पीछे रखना चाहिए। उनके बतलाये हुए हास्य के चुटकले मुझे अब भी याद हैं।

स्कूल की शिक्षा में इन्स्पेक्टरों का जो हाथ था वह भूलने की बात नहीं है। स्कूल सजाये जाते थे जैसे कि गवर्नर के आने में। मेरे एक मास्टर तो मखमल की अचकन पहन कर आया करते थे और उसमें घड़ी की सोने की चैन दोनों जेबों का सेतु बनी रहती थी। एक बार इन्सपेक्टर महोदय ने शायद मजाक में कह दिया था-You look like a prince (तुम राजा जंचते हो) उन्होंने उसे बड़ी तारीफ की बात समझी। वे अंग्रेजी मुहावरों का अत्यधिक प्रयोग करते थे। उन्होंने ही मुझे अंग्रेजी गँवारू प्रयोग (slang) भी बतलाये थे।

स्कूल के दिनों में अंग्रेजी और संस्कृत से मुझे रुचि थी। शेष विषय तो कर्त्तव्य समझकर मैं उतनी ही अरुचि के साथ जितनी कि मेरे एक सनातन धर्मी मित्र आपत्ति धर्म के नाते मुसलमान कम्पाउन्डर के हाथ की बनी हुई दवा पीते हैं, हिसाब, इतिहास, भूगोल आदि विषयों को पढ़ लेता था। हिसाब से जी चुराकर भागता था। भक्ति-भावना कुछ अधिक होने के कारण पिता की तो नहीं परमपिता की शरण लेता। जो भगवान बिल्ली के बच्चों को अवे की आग से बचा सकते थे, वे क्या मुझे मास्टर की कोपाग्नि में भस्म होने देंगे? संस्कृत पढ़कर कुछ पांडित्य प्रदर्शन का व्यसन हो गया था। आर्य-समाज और सनातन धर्म के शास्त्रार्थों में भी अधिक रुचि थी। मैं सनातन धर्म का पक्ष लेता था और कभी-कभी बहस में घंटों बिता देता। इस कारण मैं भी धर्म का रक्षक बन जाता था। मेरे पड़ोस में

सुखलाल नाम के बढ़ई रहते थे, मैं उनकी कला का बड़ा प्रशंसक था और कभी-कभी खराद की डोरी खींचकर मैं अपने को कार्य-कुशल समझने लगता था। उनके नीम के नीचे रामायण और सबलसिंह चौहान का महाभारत जो मेरे यहां बंगवासी के उपहार में आया था, आदि ग्रंथ पढ़े जाया करते थे। उनको मैं बड़े प्रेम से सुनता था। बस यही मेरा व्यसन था।

ऐसे निर्व्यसन विद्यार्थी की इम्तहान की तैयारी बहुत अच्छी होनी चाहिये थी, किन्तु हिसाब, इतिहास आदि विषयो में रुचि न थी, फिर कैसे अच्छी होती? अभी तक कभी-कभी स्वप्न में अपनी गैर-तैयारी देख कर चौंक पड़ता हूं। परीक्षा के लिए आगरे आया। बाबू वनारसीदासजी जैन की कृपा से वैश्य बोर्डिंग हाउस में ठहरा। आगरा कॉलेज के हॉल में परीक्षा दी। परीक्षा-भवन के हाबू वाबू (वर्तमान में आगरे के सुप्रसिद्ध डॉक्टर सुशीलचन्द्र सरकार) से जान-पहचान हुई। तब की मित्रता वे अभी तक निभाये जाते हैं। जब कभी रात-विरात उन विचारों को बुला लेता हूं, दूसरों का इलाज करते हुए भी वे-उज्र चले आते हैं।

उन दिनों 'लीडर' का जन्म नहीं हुआ था, परीक्षा फल जानने के लिए यू.पी. गजट ही एकमात्र साधन था। कभी-कभी सम्पन्न लोगों के मित्र या रिश्तेदार नैनीताल से तार भेज देते थे। उनकी प्रामाणिकता में सन्देह रहता, भयंकर भूल भी हो जाती थी। फेल होकर पास होना तो प्रसन्नता को द्विगुणित कर देता है किन्तु पास की खबर पाने के पश्चात् गजट में फेल निकलना गहरा मानसिक आघात पहुंचाता है। एक बार मिडिल के इम्तहान के सम्बन्ध में ऐसा धोखा खा चुका हूं। पृथ्वो के देवता प्रत्यक्ष रूप से और आकाश के देवता अप्रत्यक्ष रूप से प्रसन्न किए गये। हलवाई का भला हुआ। बधाइयां मिलीं और बड़े-बड़े लोगों के घर जाकर स्वयं प्राप्त की गईं। किन्तु गजट आने पर पांसे उलटे पड़े दिखाई दिये। लज्जा के कारण दो दिन घर से बाहर नहीं निकला। दूध का जला छाछ फूंक-फूंक कर पीता है, गजट की चातक की भांति प्रतीक्षा की। शंका विकम्पित करों से गजट के पन्ने पलटे नाम निकल आया, सारे शरीर से प्रसन्नता की विद्युद्धारा-सी दौड़ गई और मालूम नहीं किन-किन देवताओं, देवीजी का या भैरवजी का या महादेवजी का प्रसाद बांटा। उन दिनों सभी मेरे इष्टदेव थे। सोमवार को भोलानाथ महादेव के मंदिर में कर्पूर गौर मन्त्र से आरती कर घी का दीपक चढ़ाता, मंगल को 'स्वर्ण शैलाभदेहम्' हनुमानजी की गुरधानी बांटता और शनिवार को सिन्दूर का चोला चढ़ाता था। कभी-कभी विद्या बुद्धि के लिए बृहस्पतिवार का उपवास कर बेसन के लड्डुओं का भोग लगाता था। पास होने पर सभी को धन्यवाद दिया था।

मेरी स्कूल की शिक्षा की इति-श्री हुई।

*****

उसे न भूलूंगा

वैश्य बोर्डिंग हाउस की मधुमय स्मृति

मेरे जीवन-नाटक में थोड़ा-सा काव्य भी है। उसको मूर्तरूप देने के लिए काव्य की भाषा अपेक्षित थी किन्तु मुझे वीणावादिनी माता सरस्वती का लाड़ला सुत होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। क्या किया जाय? 'चाहिए अमी जग जुरे न छाछी'। हृदय की जिस उदारता से पण्डित लोग सूखे चावलों में सरस नैवेद्य और हरे-भरे पुष्प-निर्माल्य की कल्पना कर लेते हैं, यदि मेरे पाठक भी उसी मनोवृत्ति से काम लेकर मेरी शुष्क एवं कर्कश गद्य में 'एक सुख देखो मैंने बबुल के राज में, मेरा गुड़ियों का खेलना री' की-सी सुमधुर रागमयी गीतकाव्य-चित्रावली का आरोप कर लें तो वे मेरे भावों के साथ कुछ न्याय कर सकेंगे।

एक ग्रामीण कहावत है 'बछिया मरी तो मरी आगरो तो देखौ' ठीक उसी भावना को लेकर मैं ऐन्ट्रेन्स की (उस समय मेट्रीक्यूलेशन शब्द, जिसे मेरे मौलवी साहब 'मट्टी को लेसन' कहा करते थे, प्रचार में नहीं आया था) परीक्षा देकर आगरे से मैनपुरी लौटा था, क्योंकि उसमें पास होना मैं इतना ही दुष्कर समझता था जितना कि सुई के नाके में से ऊँट का जाना या अमीर का स्वर्ग को जाना। दैवयोग से मेरा नाम गजट में आ गया। 'अन्धे के हाथ बटेर' लगना कहूं या देवताओं की कृपा का फल कहूं, मेरे लिए कालेज जीवन का प्रवेश द्वार खुल गया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हरिभक्तों को स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। बड़ी सजधज के साथ, जो कि एक खुदरंग पट्टू के कोट में सीमित थी, आगरे आया। असबाब के नाम पर एक पीपा घी का था, जिससे कम से कम ऋण लेने से बचा रहूं क्योंकि शास्त्रों का वचन है 'आयुर्वै घृतं' और उसके साथ आचार्यों ने यह भी कहा है कि 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'। मियां अल्लाह बख्श के बरकत भरे हाथों से बना हुआ बारह आने वाला फूल-पत्तीदार चीड़ का एक बक्स जिसकी सिफारिश में उन्होंने 'कम खर्च बाला नशीन' कहा था, मेरे स्वाभिमान को बनाये रखने के लिए पर्याप्त था। बक्स की अपेक्षा मेरा हृदय पूर्ण था। उसमें गृहत्याग का विषाद और कॉलेज जीवन प्रवेश की उत्सुकता के भाव भूखे पेट के चूहों की भांति द्वन्द्व मचा रहे थे।

उस समय न्यू होस्टल जो अब अन्य होस्टलों के बन जाने के कारण पुराना हो गया है और अपने पुरानेपन को छिपाने के लिए टॉमसन होस्टल के नाम से पुकारा जाता है, मौजूद न था। अन्य होस्टलों की अपेक्षा वैश्य हाउस फैशनेबिल समझा जाता था। फैशन से तो मैं कोसों दूर था किन्तु वैश्य होने के नाते थोड़ी-बहुत सिफारिश के साथ मैं उसमें दाखिल हो गया।

बोर्डिंग के नये विद्यार्थी में चाहे अजनबीपन न हो किन्तु यार लोगों की एक्स-रे-सी भेदक दृष्टि उसमें कुछ न कुछ अजनबीपन खोज निकालती है। वह बौरे गांव का तो नहीं, सयाने गांव का ऊंट बन जाता है। मुझसे भी अजनबीपन का कुछ मसाला मिल गया। बोर्डिंग हाउस में मेरे एक अभिभावक थे, जलेसर निवासी स्वर्गीय बनारसीदासजी जैन (प्रसिद्ध कवि नहीं) मैं उन्हें 'भैयाजी' कहा करता था। बात-बात में भैयाजी का आश्रय लेता था और दुर्भाग्य से आवाज पंचम स्वर से कुछ ऊंची ही थी। कुछ लोगों ने मेरा नाम ही भैयाजी रख लिया और एक महाशय तो थोड़ा-सा टेढ़ा मुंह करके लम्बे खींचे हुए प्लुत स्वर से मुझे भैयाजी कह कर सम्बोधित करने में अपनी सजीवता की चरम सीमा समझते थे। इसका शुभ फल यह हुआ कि मुझमें आत्मनिर्भरता के चिह्न दिखाई देने लगे और कुछ आवारगी यानी घूमने-फिरने की आदत आ गई। मैं जंगली से शहरी बना।

यद्यपि बोर्डिंग हाउस के जीवन में पारिवारिक जीवन की प्रतिच्छाया रहती है तथापि एक बात का विशेष अन्तर है। वह है प्रभावों का वैविध्य। उस समय वैश्य हाउस में सभी टाइप के लोग थे। घोरातिघोर कट्टर सनातनी धर्मी भी थे जो चौके की लकीर के फकीर होकर उसको इतना ही महत्व देते थे जितना कि सीताजी के चारों ओर खींची हुई लक्ष्मणजी की रेखा को देना चाहिए था। मैं भी शुरू-शुरू में उसी वर्ग का था। इस वर्ग में प्रमुख थे लाला राधेलालजी अग्रवाल जो बोर्डिंग की दावतों में भी अलग चौकी पर बैठ कर खाते थे और कभी-कभी धर्म के मामलों में प्रचण्ड रूप धारण कर लेते थे। उन्हीं के साथ कुछ लोग थे जो योरुप में वेदों का डंका बजाना अपने जीवन का लक्ष्य बनाये हुए थे। उनकी पेटेण्ट वर्दी थी—पट्टू का कोट और कन्धे से अछूती झाड़दार चुटिया। श्री धर्मदेव विद्यार्थी जिनका उस समय नाम था लाला नत्थीमल और जिनको हम चिरागअली भी कहते थे, इसी टाइप के कहे जा सकते हैं। कुछ सूटेड-बूटेड साहब लोग भी थे जिनमें स्वदेशाभिमान की मात्रा तो क़म न थी, किन्तु थे वे आपादमस्तक अंग्रेजी सभ्यता में सराबोर। उनमें इतनी ही अच्छी बात थी कि मेंढक और कछुए की भांति देशी जीवन में भी वे अच्छी तरह हिल-मिल जाते थे। उस वर्ग में थे जमुनाप्रसाद जो अब रायबहादुर और चेयरमैन म्यूनिस्पल बोर्ड मथुरा हैं और देहरादून निवासी श्री उग्रसेन जो अब रायबहादुर बार-एट-लॉ और मालूम नहीं क्या-क्या

हैं। इन लोगों में साहिवी शान होते हुए भी अभिमान की गंध तक न थी। कुछ ऐसे भी सज्जन थे जो इनके बराबर फिजूलखर्च तो न थे किन्तु इनसे शान-बान में पीछे भी नहीं रहते थे। इस कोटि में श्री गोपालचन्द्रजी गिने जा सकते हैं। वे अब किसी रियासत के मिनिस्टर हैं। (अब किसी फैक्टरी में उच्च पद पर हैं)। उनके कमरे में नन्हेंखां कवाड़िया से खरीदे हुए फर्नीचर की भरमार रहती थी। लोग कभी-कभी उनको कबाड़ियामेड जेण्टिलमेन कह दिया करते थे। दो एक साहब ऐसे भी थे जो पाउडर क्रीम के अस्त्रों से ब्रह्मा को नीचा दिखाना चाहते थे, किन्तु रसायनशास्त्र के सारे प्रयोग उन्हें हंस न बना सके।

देश-भक्तों के घोर संशयवादी (Sceptics) बुद्धिवादी (Rationalists) और नास्तिक भी थे। उनके कर-कमलों में हमेशा कोई न कोई रेशनलिस्ट प्रेस की छः आने वाली पुस्तक दिखाई देती थी। उन लोगों से मैंने विकासवाद के सम्बन्ध में वहुत कुछ सीखा। उनमें प्रमुख थे स्वर्गीय मिन्नीलाल, जिनकी नेपोलियन सी लम्बी ठोड़ी उनकी निश्चयात्मकता को प्रमाणित किया करती थी। ख़ेद है अब वे इस संसार में नहीं हैं।

इनके साथ कुछ श्रद्धालु आस्तिक भी थे, इनमें इटावा के लाला सूर्यनारायण अग्रवाल का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। वे थियोसोफिस्ट भी हैं किन्तु उनकी थियोसोफी उनके कमरे तक सीमित रही, क्योंकि मेरी समझ में थियोसोफिस्ट लोग अपने मोतियों के लिए हंस ही ढूंढा करते हैं। हां, एक और जबरदस्त थियोसोफिस्ट थे, उनका नाम था श्री द्वारिका प्रसाद गोयल। वे वड़े अच्छे वक्ता थे किन्तु उनकी वक्तृत्वकला उनको चार बार में फोर्थ ईयर रूपी महोदधि के पार न ले जा सकी। वे हर बात में फोर्थ डाइमेन्शन (Fourth Dimention) और थॉट फार्म्स (Thought forms) की दुहाई देते थे किन्तु उनका देशभक्ति-सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन गम्भीर था।

हिन्दी भक्तों के साथ कुछ मौलाना लोग भी थे जो 'अरे म्याँ चिराग में कुछ रौगन औगन भी है या नहीं' कह कर अपनी उर्दू संस्कृति का परिचय दिया करते थे। मौलाना नाम के कारण वृन्दावन के एक मंदिर में उनका प्रवेश रोक दिया था। वे मंदिर के सिपाही से भी 'अरे म्याँ मैं तो अग्गरवाला हूं' कह बैठे थे। चोटी-जनेऊ दिखाने पर ही उन्हें भगवान के दर्शन मिले। आजकल के शिखा-सूत्र-हीन विद्यार्थी होते तो न जाने क्या होता?

इन मित्रों के साथ मैं कन्हैयालालजी बौहरे का नाम लेना नहीं भूलूंगा। ये महाशय भी देशभक्त थे पर संयत टाइप के। डेम्पियर पार्क में इनकी नई कोठी को देखकर आश्चर्यचकित होकर मुझे कहना पड़ा था 'ऐरे अकबरा तेरे जे-जे ठाठ'। ये महाशय मेरे मथुरा जाने पर अब भी किराये भाड़े के लिए एक रुपया भेंट किया करते हैं। मैं भी उनके आगे हाथ पसारने में लज्जित नहीं होता।

किसी न किसी गुण के कारण मैं सभी का भक्त था और सभी ने मुझे अपना अन्तरंग मित्र समझने की कृपा की थी। इसलिए ठलुआ पंथी के लिये काफी अवसर मिलता था और साथ ही ज्ञान-विस्तार को भी। स्वदेशी आन्दोलन खूब जोर पर था। सिवाय मेरे रायबहादुर मित्रों के जो मुझसे विशेष घनिष्ठता रखते थे और सब मित्र स्वदेशी रंग में रंगे हुए थे। बाबू जमुनाप्रसाद काली कामर तो न थे, वे काफी गोरे-चिट्टे थे, पर उन पर दूसरा रंग नहीं चढ़ा। यद्यपि भवभूति के शब्दों में यह तो नहीं कह सकता कि 'अविदितगतयामा रात्रिरेवं विरंसीत' तो भी वार्तालाप गोष्ठियों में बारह बज जाना सहज बात थी। कोई ऐसा वाद न था जो उस ठलुआ पार्टी में वार्तालाप का विषय न बना हो। शहर का अंदेशा तो क्या सारे देश का अंदेशा हम लोगों को था किन्तु कभी लटे नहीं। विज्ञान के नये-नये प्रयोग किये जाते थे। मेरे यह सुझाने पर कि सूर्य अत्यन्त ठण्डा है क्योंकि जितना हम ऊपर चढ़ते जाते हैं उतना ही तापमान कम होता है और सूर्य की गर्मी रश्मियों के संघर्ष के कारण है, मुझे डी.एस-सी. की डिगरी मिली थी। इसी प्रकार मैंने यह बतलाया था कि एयरोप्लेन में ऊंचे उठकर हम एक दिन में अमरीका पहुंच सकते हैं। पृथ्वी अपनी कीली पर घूमती है, घूमते-घूमते जब अमरीका आये तुरन्त नीचे उतर जाएं इस पर दूसरी बार डिगरी मिलते-मिलते रह गई।

यद्यपि कवि-सम्मेलनों की उस समय प्रथा न थी तथापि हम सभी आशु कवि थे। जीवन ही काव्य था। फिर गुप्तजी के शब्दों में कवि बन जाना सहज सम्भाव्य था। बाजार में जाते हुए भूख लगी और शायद उसी तेजी और भावुकता से जिससे कि महर्षि वाल्मीकि के मुख से 'मा निषाद्' वाला अनुष्टुप छन्द निकला था शिखरिणी छन्द निकल पड़े थे। 'भुनें भिन्नी गिन्नी लवणयुक्त सिन्नी तब मिले' (उस समय गिन्नियों का अभाव न था और लाला भिन्नीलाल के पास गिन्नी थी) मानसिक भोजन के साथ भौतिक भोजन भी बड़ा उत्तम मिलता था। जुगल महाराज और मेवाराम महाराज का नाम मेरे हृदय-पटल पर चिरकाल तक अंकित रहेगा। वैसे भोजन न शारीरिक और न मानसिक अब किसी बोर्डिंग में मुश्किल से ही मिलेंगे। उस समय हमारे मैस में पूरा साम्यवाद था। डाइट्स (Diets) लिखी नहीं जाती थीं क्योंकि सभी लोग 'अजगर करै न चाकरी' के मानने वाले थे, फिर टेनीसन की लोटस ईटर्स नाम की कविता भी पढ़ चुके थे। हाजिरी कौन भरे? एक के मेहमान सबके मेहमान होते थे और सबका बराबर एक-सा उत्तरदायित्व था।

उस समय मित्रों में बाबू रघुवीरशरण जी उर्फ 'बाबू' अपने भूधराकार शरीर के लिये माधुरीप्रसाद, कुमारी आसव की (कवियों द्वारा वर्णित ओष्ठों का आसव नहीं वरन् बदबूदार घी-ग्वार के पट्ठे का आसव) क्षीण धारा पर जीवन नौका चलाने के लिए तथा लाला दुर्गाप्रसाद अपने हुक्के की गुड़गुड़ाहट और लापरवाही के लिये (हुक्के से उनकी चारपाई में आग लग गई थी किन्तु उनको खबर तभी हुई जब आधी जल गई)। लाला आत्मानन्द अपने कर्तव्यपालन

की प्रसन्नता के लिये चिरस्मरणीय रहेंगे।

मेरे कक्षवासी चम (Chum) मुझसे सदा झगड़ा करते थे। मैं यदि तीन बजे उठूं तो वे तीन वजे तक कमरे को आलोकित रक्खें। इस प्रकार ब्रिटिश एम्पायर की भांति मेरे कमरे में सदा उजाला रहता था। वावू जानकीप्रसाद कार्य विभाजन में अधिक विश्वास रखते थे। रात को ऊपर की चटकनी वे वन्द करते तो नीचे की मैं बन्द करता।

मुझे अध्ययन में पराई पत्तल का भात अच्छा लगता था। आर्ट्स का विद्यार्थी होकर विज्ञान में मुझे रुचि थी। संस्कृत के वजाय फिजिक्स पढ़ता। तर्कशास्त्र मेरा विशेष विषय था। बिना पैसे की चार-चार ट्यूशनें करता था। इन सब बातों का फल यह हुआ कि सुयोग्य गुरुओं को, जिनका पृथक वर्णन करूंगा, पाकर भी मैंने परीक्षाओं की मंजिलें धीरे-धीरे तै कीं। शनैः कन्थाः शनैः पन्थाः शनैः पर्वत लंघनं, शनैः विद्या च वित्तञ्च एते पंच शनैः शनैः। मैं नहीं जानता इसको सफलता कहूं या विफलता किन्तु उस जीवन में सजीवता थी। विशाल भारत के सुयोग्य सम्पादक पण्डित श्रीराम शर्मा द्वारा निर्जीवता की अमर ख्याति प्राप्त करके भी मैं अपने को सजीव कह सकता हूं, यह उसी समय की सजीवता का प्रतिस्पन्दन है। नहीं तो 'जाको मारे साइयां राखि सके नहिं कोय?

*****

नमो गुरुदेवेभ्यो

कालेज जीवन के दस गुरु

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

कछुआ और मेंढक की भांति कुछ जीव उभयगति होते हैं। उनकी गति जल-थल में समान रहती है। मैं भी किसी अंश में वैसा ही जीव हूं। मैं आगरा कालेज का विद्यार्थी रहा हूं और सैण्ट जॉन्स का भी। यद्यपि यह कहना कठिन है कि किस कालेज का मैं कितना ऋणी हूं तथापि यदि मैं किसी कल्पना-विस्तार से अपने को प्रस्तर मूर्ति होने का गौरव दूं तो मैं यह कह सकता हूं कि मुझ अनगढ़ प्रस्तर-खण्ड[1] को बाहरी रूपरेखा मिशन हाईस्कूल मैनपुरी में मिली थी। वह आगरा कालेज में गढ़ा गया और उसे सेन्ट जॉन्स कालेज में ओप (पॉलिश) दिया गया। उस मूर्ति की वैश्य बोर्डिंग में प्राण-प्रतिष्ठा हुई।

मुझे अपने कालेज जीवन में विष्णु भगवान के दशावतार स्वरूप दस गुरुओं की 'बूटाच्छादित-चरणाम्बुज-सेवा' का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। स्मृति-मंदिर में सुखासीन उन प्रत्यक्ष देवताओं के धुंधले से शब्द-चित्र अंकित कर मैं अपनी स्वर्ण जिह्वा लेखनी को पवित्र करूंगा। यद्यपि देवताओं में कोई छोटा-बड़ा नहीं होता तथापि मैं गणेश स्परूप अपने संस्कृत अध्यापक पं० कृष्णलाल मिश्र के चरणों में सर्वप्रथम श्रद्धांजलि अर्पित करूंगा। लोक में भी "अग्रे अग्रे ब्राह्मण" की नीति मान्य है।

1. पं. कृष्णलाल मिश्र

आपके भव्य शरीर से "वागर्थाविव संपृक्तौ" पेन्ट और छकलिया अचकन का बेजोड़ जोड़, गोल मखमली टोपी, आत्मसन्तोषपूर्ण प्रसन्न वदन पर लहराती घनी मूंछें, उन सबके

---

1. मेरे मौलवी साहब मुझे अक्सर 'कुन्दए नातराश' कहा करते थे। उसका अर्थ अनगढ़ पत्थर के समान ही है।

साथ लम्बी डग-भरी सबल दण्डाश्रित व्यालविनिन्दित चाल, आपको तीन लोक से न्यारी छटा प्रदान करती थी। जिस प्रकार ऋषियों की क्रियाएं फलानुमेया कही गई हैं, उसी प्रकार आपका स्मित हास्य मूंछों की गति से अनुमेय रहता था। आपके पढ़ाने में बात-बात में रसिकता टपकती थी। आपके वार्तालाप में जीवन के प्रति पूर्ण अनुराग था, लेकिन आप बोलते अंग्रेजी में ही थे। आपके अधरपुटों से हिन्दी के शब्द विरले ही अवसरों पर निकला करते थे। हम लोग उन शब्दों को पृथु की भांति सहस्र-कर्ण होकर सुनते थे। पण्डितजी देववाणी का अंग्रेजी रूपान्तर करने में बड़े सिद्धहस्त थे। अनुवाद में शब्दों की पुनरावृत्ति बचाने के लिए वे नये-नये प्रकार के वाक्-विन्यास खोज निकालते थे।

पण्डितजी का मुख्य व्यसन वैद्यक था। जब डा. गंगानाथ झा को डी. लिट्. की डिग्री मिली थी तब मैंने कहा था, गुरुदेव! आप भी डी. लिट्. ले लीजिए। 'असन्तुष्टा द्विजा नष्टा' कह आप मुस्कुराये और फिर बड़ी वैराग्य मुद्रा धारण करके कहने लगे, "All D. Litts must die. My ambition is to become a good Vaidya" मैंने निवेदन किया 'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।' आपने तुरन्त ही उत्तर दिया कि 'भज गोविन्दं भज गाविन्दं भज गोविन्दं मूढ़ मते, प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहिं-नहिं रक्षति ढकृञ करणे'। इस प्रकार पण्डितजी का घण्टा काव्य-शास्त्र विनोद में जाता था। जब हम लोगों के वार्तालाप का पारावार पाठ्य-विषय की क्षुद्र सीमाओं पर आक्रमण करने लगा तब यह निश्चय हुआ कि संस्कृत में बातचीत किया करेंगे। इससे स्वयं मितभाषिता आ जायेगी। मुझे अब और तो कुछ याद नहीं रहा, केवल इतना ही याद है कि पाठ खत्म होने पर वे कहते थे 'अत्रैव विररामः।' उनका चित्र भी यहीं विराम लेता है।

2. डब्ल्यू.टी. मलीगन

ये महाशय थे तो विशुद्ध आइरिश, लेकिन इनके मुखमण्डल तथा हाथों पर भारत की प्रखर सूर्य रश्मियों का प्रभाव अच्छी तरह पड़ा था। जब कभी ये आस्तीनें चढ़ाते (लड़ने के लिए नहीं) तो उनके हाथों और बांहों का अंतर तुरंत मालूम पड़ने लगता था। उनकी श्वेत बाहुओं में तांबे के रंग के हाथ ऐसे प्रतीत होते थे मानो किन्ही अश्विनीकुमारों के अवतार ने उनको ऊपर से जोड़ दिया हो। 'आकारसदृशप्रज्ञः' के अनुसार जैसा ठोस उनका शरीर था वैसा ही ठोस उनका पाण्डित्य था। वे शब्दों का अर्थ बताने में उनके बाबा परदादा तक का हाल बखान देते थे। विना टेन्टेलस की विस्तृत कथा सुनाये Tantalise शब्द का अर्थ न बताते थे। ग्रीक और लैटिन के वे इतने शौकीन थे कि मजिस्ट्रेटी के जीवन में ग्रीक लेटिन का काम न पड़ने के कारण उन्होंने उस पद से त्यागपत्र दे दिया था। साइकिल के वे इतने सिद्धपग (सिद्धहस्त तो कहना ठीक न होगा) थे कि वे दिन भर में साइकिल पर मेरठ पहुंच

जाते थे। साइकिल पर कभी-कभी वे निद्रा-मग्न भी हो जाते थे और अपने लक्ष्य को भूल कर किसी दूरस्थ गांव में पहुंच जाते। उन दिनों मोटरकार का प्रचार न था, इसलिए कोई एक्सीडेन्ट नहीं होता था। इस समाधि प्रेम का कारण था स्वाध्याय का आधिक्य। वे रात के दो-तीन बजे तक पढ़ा करते थे। बीच में जब निद्रा आती मुगदर की जोड़ी फिरा कर योगमाया को दूर भगा देते थे। वे हण्टले साहब के साथ उस कोठी में रहते थे जो आजकल हण्टले होस्टल के नाम से प्रख्यात है। एक बार वे किसी लड़के के लिए सिविलसर्जन को लिवाने गये। निद्रा के आवेग में शहर से दूर जहो पहुंचे और फिर किसी जमींदार की चौपाल में दुपहरी बिताई। शाम को जब वे डाक्टर को लेकर लौटे तब लड़का टेनिस खेल रहा था।

मलीगन साहब बड़े हास्यप्रिय और वाचाल थे। मैं पाठ्य पुस्तक की अपेक्षा उनकी बातों को अधिक महत्त्व देता था। तर्कशास्त्र का प्रेम मैंने उनसे ही प्राप्त किया था। वे सब चीज की क्रियात्मक व्याख्या अपने टोप से करते थे। कभी वे उसे जहाज मान लेते तो कभी उसे पार्लियामेन्ट का भवन।

मैंने ऐसे गुरुओं की शिक्षा प्राप्त कर परीक्षा की ओर तो कम ध्यान दिया, विज्ञान और दर्शनशास्त्र के बाहरी अध्ययन में अधिक समय बिताया। इसीलिए मुझे परीक्षा सागर में गोते खाने पड़े।

3. प्रो. एन.सी. नाग

यद्यपि मैं विज्ञान का विद्यार्थी न था तथापि मैं उनसे बहुत प्रभावित था। उनसे गुरु शिष्य का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मैंने उनका फोटोग्राफी क्लास जोइन किया। उनका ईषत् श्याम वर्ण, छोटा कद, गठा शरीर, फुर्तीली चाल, हंसता हुआ चेहरा, उनको विद्यार्थियों के हृदय में एकदम उच्च स्थान दे देता था। वे एक चौथियाई मुस्कुरा कर हाथ के इशारे करते थे, एक चौथियाई बोर्ड पर लिखते थे और कौशल और हस्तलाघव के साथ आधा प्रयोगात्मक रूप से बतलाते थे। इस प्रकार उनकी बताई हुई बात सवाई समझ में आती थी। हमारे लाला विश्वम्भरलालजी जो हाल ही में आगरा कालेज से अवकाश ग्रहण कर चुके हैं, उन्हीं के शिष्य हैं।

वह समय विशेषीकरण का न था। नाग साहब फिजिक्स और कैमिस्ट्री दोनों ही विषय एम.एस-सी. तक पढ़ाते थे। पीछे से फिजिक्स के लिए मिस्टर 'गुप्ता' आये थे। इसके अतिरिक्त वे फोटोग्राफी क्लास लेते थे। वे नये प्रयोग करते (वायरलेस उन दिनों चला ही था) और न जाने क्या-क्या करते थे। एक ग्रामोफोन रेकार्ड बनाई थी, (उन दिनों ग्रामोफोन को फोनोग्राफ कहते थे और तबों को चूड़ी कहते थे क्योंकि रिकार्ड उसी आकार के होते

थे) जिसमें उन्होंने सब प्रोफेसरों की आवाज भरी थी। पीछे से आप स्वयं इतना ही बोले थे That is alright.

एन्ट्रेस फेल सादिकअली उनके एकमात्र डिमोन्स्ट्रेटर थे और निरक्षर भट्टाचार्य वजीरा लेब. असिस्टेण्ट था। जब मैंने फोटोग्राफी क्लास छोड़ा तब यह शेर दीवार पर लिख दी थी–

"अलविदा ए पाइरो, अलविदा अलकली।
अलविदा वजीरा ओ सादिकअली।।"

वे कभी-कभी एक-आध लड़के को वांस से पीट भी देते थे। रवि बाबू के शब्दों में हम कह सकते हैं कि जो प्यार करता है वही पीटने का अधिकारी होता है। इसी रहस्य को न समझ कर अंग्रेज प्रोफेसरों को बड़ा आश्चर्य होता था कि जहां केवल उनके स्ट्यूपिड कहने पर स्ट्राइक हो जाय वहां उनकी चपत पर भी लड़के मुस्कुरा कर रह जायं।

4. मेजर ओ-डोनैल

ये (पीछे से कर्नल और प्रिन्सीपल मेरठ कालेज) बड़ी सौम्य प्रकृति और स्वतंत्र विचार के सज्जन हैं। आप आइरिश हैं और उस समय शायद इसी नाते भारतीय विद्यार्थियों और राजनैतिक समस्याओं से बड़ी सहानुभूति रखते थे। उनका स्वच्छ रक्ताभ हंसमुख, सौम्य आकृति, गोल्ड फ्रेम में से झांकती हुई आंखों की विशिष्ट चितवन एवं विलायत से नौवारिद साहब की सिविलियन सजधज, भय और आतंक को भगाकर श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न कर देती थी। वे जनरल इंग्लिश पढ़ाते थे। शायद आइरिश होने के कारण वे शीन के शड़ाके बहुत भरते थे। चपल बुद्धि 'बालक-बर्र एक सुभाऊ' विद्यार्थियों ने उनका नाम 'शू-शू साहब' रख लिया था। हाजिरी लेते समय जब वे किसी विद्यार्थी के नाम का कोई अंश उच्चारण नहीं कर सकते तब वे Something कह देते थे, किन्तु एक वार सुमित्रा नन्दन सहाय का नाम पढ़ते समय वे उसके नाम के तीनों भागों का उच्चारण न कर सके और Something Something Something कह गये। लड़के ने तो हाजिरी बोल दी लेकिन सारे क्लास में हँसी की लहर दौड़ गई।

ओ-डोनैल साहब की एक बात ने मुझे अभी तक काम दिया है और शायद आप लोगों को भी याद रहे। वे कम्पोजीशन पढ़ाते समय "उन आइडिया, उन पेरेग्राफ, उन पेरेग्राफ, उन आइडिया" कहते हुए नहीं थकते थे। उनके इस विचार से मेरे लेखों में संगति की भावना अधिक बढ़ गई है। अब ये मेरठ कालेज से अवकाश ग्रहण कर चुके हैं।

5. आचार्य टी.सी. जोन्स

आप आगरा कालेज के प्रिन्सीपल थे आपका हृष्ट-पुष्ट लम्बा तड़ंगा फौजी शरीर, स्वास्थ्य एवं अधिकारसूचक रक्ताभ वर्ण, प्रिन्सनेज चश्मा तथा लार्ड टनीसन के ब्रक की-सी उमड़ती-घुमड़ती, लहराती आवाज विद्यार्थियों में भारी आतंक पैदा कर देती थी। उनको केवल पढ़ाने से काम था। परीक्षा-प्रेमी विद्यार्थियों के आदर्श गुरु थे। नपे-तुले, कटे-छटे द्विशब्दी पेराफ्रेज, टकसाली रुपयों की भांति खनाखन निकलते आते थे। मुझे ऐसे वार्तालाप-प्रेमी 'शनैः कंथा शनैः पंथा' के अनुगामी, ठहर-ठहर कर पास होने वाले विद्यार्थियों के लिये उनकी पढ़ाई मथुरा के चौबों की भाषा में सूखी चिनाई-सी लगती थी। एक बार मेरा जी ऊब रहा था, मैंने अपने पास के विद्यार्थी से अपनी कापी पर फारसी में 'दर सायल चन्द दकीका वाकी अन्द' (अर्थात् घन्टा बजने में कितने मिनट बाकी हैं) लिखकर पूछा। जोन्स साहब के घूम-घूम टहल-टहलकर पढ़ाने में I slide, I slip, I gloom, I glance का चित्र उपस्थित हो जाता था। इसलिये उनकी दृष्टि सर्वतोमुखी रहती। वे चुपके से मेरी कापी उठा ले गये और उस वाक्य को मौलवी साहब से पढ़वाया। फिर उन्होंने मुझे वह करारी फटकार लगाई कि आजीवन याद रहेगी।

It is not complimentary to a professor to be talking or looking at watches while he is teaching. इस पर भी उन्होंने मुझे सर्टीफिकेट बहुत अच्छा दिया था। मुझमें खानसामों या रायबहादुरों की संग्रह बुद्धि नहीं है। यदि वह मेरे पास होता तो गर्व से मैं आप लोगों को दिखाता।

6. प्रो. चार्ल्स डॉबसन

जब मैं आगरा में फर्स्टईयर में पढ़ने के लिये आगरा आया था उस समय तक स्कूल कालेज के पार्थक्य की भेद-बुद्धि का आरम्भ नहीं हुआ था। मिस्टर डॉबसन स्कूल के हैडमास्टर थे और कालेज में भी अध्यापन कार्य करते थे।

उनका मझोला कद, कुछ मांसलता की ओर झुका हुआ मुखमण्डल, प्रसन्नानन, पूर्ण व्यक्त मूंछें और कुछ नीची कलमें, गोल-मटोल सम्पन्नतासूचक खल्वाटोन्मुख सिर जिस पर कभी-कभी पुरानी चाल का ऊंचा रेशमी हैट विभूषित दिखाई देता एक दम विश्वास, निर्भयता, सज्जनता, सौम्यता और पाण्डित्य का आतंक नवागत विद्यार्थियों के हृदय में जमा लेता था। मैं उनके स्पष्ट उच्चारण से बहुत ही प्रभावित था। एक-एक शब्द मोती-सा गोल स्वच्छ और निश्चित रूपरेखा-पूर्ण होता जिसके व्यक्तीकरण में भी प्रायः उनके अधर-पुट वर्तुलाकार हो

जाते थे; मुख के साथ उनकी मांसल छोटी-छोटी बाहुएं भी गति-साम्य करती थीं। तर्कशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला एक नपा-तुला वाक्य अभी तक मेरे कानों में गूंजा करता है। "Science teaches us to know, Art teaches us to do, Science is systematised knowledge, Art is systematised action.

स्कूल और कालेज का पार्थक्य हो जाने पर भी मैं अक्सर अपने फिलासफी के गुरुदेव राजू साहब के साथ उनके बंगले पर जाया करता था और उनके धार्मिक, दार्शनिक और राजनीतिक विषयों के गम्भीर अध्ययन और उदार दृष्टिकोण का परिचय पाता था। उनसे सम्बन्धित अपने जीवन की एक बात न भूलूंगा। उनके यहां कोई मीटिंग थी। वेष-भूषा के सम्बन्ध में मैं प्रायः उदासीन रहा हूं लेकिन उन दिनों मैं एम.ए. का विद्यार्थी था। अपने गुरुदेव की देखा-देखी एक काला कोट भी बनवा लिया था, उससे सुसज्जित हो पहली बार ही लेम्प लगा कर साईकिल पर उनके बंगले की यात्रा की थी। रास्ते में ऊंची चढ़ाई थी। वह मेरे लिए माउण्ट एवरेस्ट की चढ़ाई से कम न थी। वास्तव में वह मेरे लिए Uphill task हो गया था। उतरता इसलिए न था कि फिर चढ़ने में दिक्कत होगी और पैदल इसलिए नहीं चलता था कि समय की पाबन्दी न हो सकेगी। लेम्प भी रात में ताजगंज की वर्ल्ड फेम (World fame) गजक विक्रेता खोमचे वालों की मिट्टी की तेल की कुप्पी से स्पर्द्धा कर रहा था। वह लेम्प जिसको शुद्ध हिन्दी में दीप-मंदिर कहूंगा, एक साथ नासिका और नेत्रों को प्रभावित कर रहा था। रात्रि का समय था और सड़क भी निर्जन-प्रायः थी। न कोई मेरी दुर्गत देखने वाला था और न कोई सड़क पर टकराने वाला, यदि होता तो मैं घण्टी का काम मुंह से लेता। बंगले पर पहुंच कर विश्राम किया। लौटा मैं गुरुदेव के साथ पैदल। यह थी मेरी साइक्लिंग की सबसे बड़ी तो नहीं उससे कुछ कम सफलता। सबसे बड़ी सफलता उस दिन हुई जब कि मैं अपने मित्र कृष्णलाल (दहलवी) के निमन्त्रण पर हिमालय के नहीं आगरे के कैलाश में रामगुफा के उद्घाटनोत्सव की दावत खाने गया था। लौटा मैं उनकी विक्टोरिया में। साईकिल एक और विद्यार्थी को दे दी थी। यह सफलता या विफलता शायद इसीलिए हुई थी कि मुझे अपनी निजी साईकिल रखने का कभी सौभाग्य न हुआ था यद्यपि चांदनी रात में धुली तनजेब का कुर्त्ता पहन कर साईकिल दौड़ाने की बात मेरे सुख स्वप्नों में से थी। किन्तु स्वयं अपने सम्बन्ध में तो पूरा हुआ नहीं दूसरों को चढ़े हुए देख कर जीवन के गतिशील चित्र भर का आनन्द ले लेता हूं। चांदनी रात की सैर का स्वप्न छतरपुर की मोटरों में अवश्य पूरा हुआ है।

इस विषयान्तर को पाठक क्षमा करेंगे।

7. प्रो. बैनीमाधव सरकार

जब मैंने पहली बार फर्स्ट आर्ट्स की परीक्षा दी थी उस समय आर्ट्स कोर्स में गणित-शास्त्र का भी अध्ययन करना पड़ता था। गणित शास्त्र मेरी अभिरुचि का विषय न था। न जाने कौन से धान गंगा में बोये थे जिनके पुण्य-प्रताप से पहली ही बार गणित लेकर एण्ट्रेन्स में उत्तीर्ण हो गया था। एफ.ए. के गणित में सोलिड ज्योमेट्री कुछ रुचिकर थी क्योंकि उसमें कल्पना की व्यायाम के लिए स्थान अधिक रहता। प्रोफेसर सरकार का एक निजी व्यक्तित्व था। कुछ स्थूलकाय मझोला कद और चेहरे पर भरी हुई दाढ़ी एकदम उन्हें भव्यता प्रदान करती थी। उन्होंने क्या पढ़ाया और क्या नहीं पढ़ाया इसकी तो मुझे कुछ याद नहीं। इसमें उनका दोष नहीं, मेरी रुचि का ही दोष था। किन्तु वे थे बड़े नीति-निपुण और खरे समालोचक। कालेज की पोलिटिक्स यदि कहीं सुनने में आती थी तो उनके क्लास में। उनके व्यंग्य बाण बड़े तीखे होते थे, वैसे ही उनकी दृष्टि भी बड़ी तीव्र थी। कोई विद्यार्थी उन्हें धोखा देने का साहस नहीं कर सकता था। यदि कोई विद्यार्थी पांच मिनट भी लेट आता तो वे फौरन कह देते "Please make yourself comfortable elsewhere" अर्थात् 'कहीं अन्यत्र आराम कीजिए'। वे लड़कों का मजाक बनाना भी खूब जानते थे। यदि कोई लड़का कहता कि उत्तर करीब-करीब आ गया है तो वे कहते, 'क्या ऐसा कि दस उत्तर है तो नौ आ गया है!' कभी-कभी लड़के भी हाजिर जवाबी में उनसे आगे निकल जाते थे। एक वार उन्होंने एक लड़के से कहा कि आजकल घोड़े भी सही-सही सवाल निकाल लेते हैं तो उसने तुरन्त उत्तर दिया कि साहब उनमें किसी गणितज्ञ की रूह आ जाती होगी।

अपने विषय के वे पूरे पण्डित थे। यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं उनसे कुछ न सीख सका। वे सदाशय और सद्भावना की मूर्ति थे। वे बादाम की भांति ऊपर से कठोर और हृदय से कोमल थे। पुरुष-परीक्षा में वे सिद्धहस्त थे। एक बार उनके घर जाते समय मेरे मित्र बाबू कृष्णलाल के नौकर कालू ने बादामों की ठण्डाई के धोखे में मुझे भांग पिला दी। बहुत यत्न करने पर भी मैं अपनी बातों की असंगति न छिपा सका। वे तुरन्त ताड़ गये और कहने लगे 'बोर्डिंग-हाउस जाइये आराम कीजिए'। दिल्ली दरवाजे के प्रसिद्ध होमियोपैथ डाक्टर उन्हीं के सुपुत्र हैं। उन्हीं के नाम पर मेरे घर के पास की सड़क का नाम वैनीमाधव सरकार रोड रखा गया है।

8. प्रो. जोन बंगारू राजू

मेरी जीवन-नौका को यदि एक विशेष दिशा में ले जाने का श्रेय किसी गुरु को दिया जा सकता है तो राजू साहब को। उन्हीं के प्रतिभापूर्ण सौजन्य के कारण मैं सेन्ट जॉन्स

कालेज में फिलासफी के लेक्चर निःशुल्क सुनता था। विशप डरन्ट के उदारतापूर्ण आग्रह से मेरी इम्तहान की फीस भेजी गई और पितृदेव की वेबसी की दी हुई आज्ञा पाकर मैंने लॉ की सफलता का बलिदान किया और प्रिवियस एम.ए. पास कर कालेज में प्रोफेसर बना। यदि मैं राजू साहब के सम्पर्क में न आता तो मैं न्याय-विभाग का उच्च अधिकारी अवश्य होता किन्तु लेखक, दार्शनिक और उसके फलस्वरूप छतरपुर राज्य का प्राइवेट सेक्रेटरी होने का गौरव न प्राप्त करता। उनकी बदौलत मेरी जीवन-वृत्ति का काव्य 'अर्थकृते' न बनकर 'यशसे' अधिक रहा।

गुरुदेव प्रलम्बता की मूर्ति थे। उनकी शरीर यष्टिका की लम्बाई को उनके दुबलेपन ने और चेहरे की लम्बाई को पुच्छाकार दाढ़ी ने निखार में ला दिया था। उनको अपनी दाढ़ी पर गर्व था। उन्होंने ऑक्सफोर्ड में भी जो मुछमुण्डता का गढ़ है उसकी इज्जत कायम रखने का साहस किया था। यदि सभी विद्यार्थीगण उसके विदा करने का आग्रह करते तो वे कह देते कि जिसको किंग जार्ज ने अपनाया है उसे किस प्रकार हेय कह सकते हो। उनके मुखारविन्द ने अपने प्रेमी भ्रमर की ईषत अनुरूपता धारण कर ली थी और उसे केशों के साथ कम्पिटीशन में केवल एक-चौथाई नम्बरों से हार माननी पड़ती थीं। उनका अलपका का कोट उनके शरीर के वातावरण में साम्य-सा उपस्थित कर देता था। उनके ललाट और मुख-मण्डल की भावानुरूप तीव्र गति से बदलने वाली रेखाएं उस साम्य में एक सुखद वैषम्य उपस्थित कर देती थीं। व्याख्यान देते समय उनकी शरीर-यष्टिका वेत्रलता के समान आगे-पीछे को लहराती, उनकी पद-गति ताल का काम देती और उनकी यक्ष की सी लम्बी उंगलियां अधर-पुटों के साथ नृत्य करतीं। उनकी आंखों में एक विशेष दीप्ति थी जो श्रोताओं को अपनी सम्मोहन कला द्वारा मंत्र-मुग्ध कर देती थी। उनके वार्तालाप में उनका शरीर नहीं बोलता था वरन् आत्मा बोलती थी। श्रद्धा और विश्वास की वे मूर्ति थे। भावुकता वर्षाकालीन नदी के जल की भांति उनके सारे शरीर से उमड़ी पड़ती थी। साधारण-सी बात में रहस्य और आद्भुत्य उत्पन्न कर देना उनके लिए सहज सम्भाव्य था।

उनका झुकाव रोमन कैथोलिसिज्म की ओर था। विचारों की निर्भीकता उनकी विशेषता थी। यद्यपि उनके साधारण वार्तालाप गें चाटुकारिता का पुट रहता था तथापि वे अपने सिद्धांतों में दृढ़ थे। नित्य नयी दार्शनिक और सामाजिक समस्याओं का उद्घाटन करना उनकी प्रखर प्रतिभा का परिचायक था। मेरे प्रारम्भिक लेखो में उनके ही विचारों का अधिक अवतरण रहता था। उनके जीवन में बुद्धिवाद और भावुकता का विशेष समन्वय था। कोई बड़े से बड़ा विषय न था जिसकी वे धज्जी न उड़ा देते हों और कोई छोटी-से-छोटी बात न थी जिसको वे महत्ता न दे सकते हों। अंग्रेजी सभ्यता का घोर प्रशंसक होते हुए भी उन्हें अपनी

भारतीयता का गर्व था और अंग्रेजी जाति के दोषों के उद्घाटन में भी वे नहीं चूकते थे। इसलिए कुछ लोग तो उनकी सच्चाई में भी शंका करते थे। 'निन्दन्ति नीति निपुणाः यदि वा स्तवन्तुः' इसकी उनको परवाह न थी, वे अपने सिद्धांतों में अटल थे।

दार्शनिक होते हुए भी उनमें सौन्दर्योपासना भी काफी थी। एक इटालियन रमणी की तारीफ करते हुए उन्होंने जो शब्द कहे थे वे मुझे अब तक याद हैं—"She walked not but danced, she spoke not but sang" मैं अपने विद्यार्थियों को अपह्नुति अलंकार समझाने में यह सरस उदाहरण दे देता हूं। मैं अपने उत्तरकालीन जीवन में भी उनसे दिल्ली में मिला हूं लेकिन उनकी छाप जो मेरे विद्यार्थी-हृदय पर पड़ी थी वह अक्षुण्ण है। मुझे दुःख है कि आजकल वे कुछ कठिनाई में हैं किन्तु 'भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषं'।[1]

9. डॉक्टर हंटले

मैं डॉक्टर हंटले के कारण सेन्ट जॉन्स कॉलेज के सम्पर्क में आया था। मैंने पढ़ाई की मंजिल सुस्ता-सुस्ता कर तय की थी। मैं बी.ए. में संस्कृत में फेल हो गया था। इसलिए अब उस हीनता भाव को दूर करने के लिए अपने लेखों में संस्कृत अधिक बघारा करता हूं। प्रोफेसर मलिगन के देहावसान हो जाने के कारण आगरा कॉलेज में फिलासफी का कोई प्रबन्ध न था। मैं अपने शिकारपुरी मित्र के साथ हंटले साहब के पास फिलासफी के अध्ययन के लिए सेन्ट जॉन्स कॉलेज जाया करता था।

हंटले साहब और मलीगन साहब दोनों एक ही बंगले में जो अब हंटले होस्टल के नाम से प्रख्यात है, रहते थे। हंटले साहब पूरे स्काच थे, मलीगन साहब पूरे आइरिश, जोन्स साहब अंग्रेज थे (थे तो शायद वे वेल्स के रहने वाले किन्तु मनोवृत्ति से पूरे अंग्रेज थे) इसलिए मैं विद्यार्थी जीवन में पूरे ब्रिटिश आइल्स की मनोवृत्ति से परिचित हो गया था।

हंटले साहब की प्रतिभा वास्तव में बहुमुखी थी। ऐसा कोई विषय न था जिसको वे पढ़ा न सकते हों। एम.ए. को अंग्रेजी पढ़ाते थे, बी.ए. को फिलासफी पढ़ाते, कभी-कभी मेथेमेटिक्स का भी क्लास लेते और कैमिस्ट्री क्लास के विद्यार्थियों को भी अपनी प्रतिभा से प्रभावित कर आते थे। बी.एस-सी. में वाइलोजी खुलवाने का श्रेय उन्हीं को है। मैडीकल स्कूल में वे एनाटमी पढ़ाते और कॉलेज, होस्टलों के मैडीकल आफीसर भी थे। छावनी में जाकर घंघरिया पल्टन के सिपाहियों (High Landers) को गिरजे में उपदेश देते और शायद जनता में भी ईसाई धर्म का प्रचार करते थे। दो एक बार उनकी दवाइयों से मैंने

1. खेद है कि अब उनका शरीर न रहा।

स्वास्थ्य-लाभ किया था। एक बार नमूने में आई हुई फैलोस-सिरप की शीशी उन्होंने मुझे दी थी।

वेष-भूषा में वे इकता थे। उसे देख कर मैं भी आत्मग्लानि से बच जाया करता था। यद्यपि जूतों की सफाई-सुघराई में मैं उनसे बाजी ले जाता था क्योंकि मैं प्रायः किरमिच के सस्ते जूते पहना करता था जो शीघ्र ही मेरी गरीवी का परिचय देने लगते थे। मैं गरीव था ही और अपनी अस्त-व्यस्तता के कारण गरीबी का प्रदर्शन भी करता दिखाई देता था। यद्यपि वैभव-प्रदर्शन का वैज्ञानिक अध्ययन किया है, तथापि उसके व्यावहारिक पहलू से मैं अछूता रहा हूं। कभी-कभी पाण्डित्य प्रदर्शन कर लोगों को अवश्य धोखे में डाला है जिसके लिये मुझे हार्दिक खेद है। हंटले साहव गर्मियों में सफेद या खाकी जीन पहनते थे, और जाड़ों में होमस्पन ट्वीड (हाथ के कते का मान विलायत में भी था) जिसमें कभी-कभी विना छिद्रान्वेषी हुये भी छिद्र दिखाई देने लगते थे। उनके परिधान की उपादान सामग्री थी। खुले गले का कोट उसके नीचे घुटनों पर वटन लगने वाली ब्रीचेज या निकरवुकर ऊनी मोजे, काला जूता और सर पर कभी सोला और कभी वूअर हैट-सा या उस आकार की कोई वस्तु नाइट कैप तक शोभायमान होती थी। कुछ-कुछ झुर्री पड़ा हुआ सदा प्रसन्न चेहरा जिसमें एक दांत कुछ वाहर को आने के उद्योग में रहता था और भूरी विरल दाढ़ी उनकी शीघ्र पहचान करा देती थी। उन दिनों दाढ़ी सम्प्रदाय का जोर था, खेद है अव हमारे विनम्र प्रिन्सीपल टी.डी. सली (जो अव अवकाश ले चुके हैं) ही उसके एकमात्र प्रतिनिधि हैं। हंटले साहव की गर्दन में एक झोला भी रहता था (जैसा आजकल कभी-कभी लड़के डाल लेते हैं) जिसमें छिपकली, कैंचुए, मेंढक न जाने क्या-क्या रहता था। कभी-कभी उसमें डबल रोटी भी रख लेते थे। उनकी ऐसी ही वेश-भूषा देखकर पहले महायुद्ध में टूंडला की रेलवे पुलिस ने एक बार उनको जासूस समझ कर आगरा जाने से रोक लिया था। उनके हृदय में विद्यार्थियों के प्रति सच्चा दयाभाव रहता था। यदि कोई लड़का गलती करता तो उसकी वे पीठ ठोकते और कहते "My boy I am glad you have committed this mistake here, now you are saved from committing it in the examination hall, one might say" उनका तकिया कलाम था। वे उर्दू शब्द 'महज' के बड़े प्रशंसक थे। उनके मन से वह शब्द अंग्रेजी शब्द Mere से अधिक भाव-व्यंजक है। व्याख्यान देते समय वे केवल एक Lads का सम्बोधन जानते थे, चाहे कमिश्नर साहव बैठे हों, चाहे गवर्नर।

हंटले साहब वार्तालाप में बड़े निर्भीक और हास्य-प्रिय थे। बाइलोजी के एफिलिएशन के लिये जब इन्सपेक्टर लोग आये और उन्होंने पूछा कि Well doctor where is your

laboratory तब उन्होंने एक लड़के की बांह पकड़ कर कहा—"Human body is the best Biological Laboratory" फिर जरा इधर-उधर देखकर कहने लगे कि 'For Zoology, I take them my student to the Medical School, and for Botany, I take them to the Taj gardens. Can you find better Laboratories than those?'

वे जब, कभी-कभी मेरे यहां खाना खाते तो अपनी बची हुई मिठाई कागज में लपेट कर घर ले जाते। कहा करते थे कि 'Mem sahib will like it' ऐसा निजी सम्पर्क रखने वाले प्रोफेसरों के चरणों में बैठकर ही मैं कुछ सीख सका हूं।

10. इरिक डू

जब राजूंसाहब अध्ययनार्थ विलायत चले गये तब डू साहब जो उनके गुरु थे मद्रास से आगरे आये। उनके हुलिया में विशेष विशेषता न थी। कद कुछ नाटेपन की ओर झुका हुआ था। और शरीर में कुछ स्थूलता आ चली थी। उनकी दार्शनिकता, उनकी बढ़ी हुई भोंहों छोटी आंखों और ईषत् लम्बी नाक से लक्षित होती थी। उनके बोलने में एक विशेष गति थी। वे अखिरी शब्द को कुछ अधिक खींच देते थे जिससे उसकी आवाज देर तक घन्टे की टंकार की तरह ध्वनित होती रहती थी। वर्गसन का उनका विशेष अध्ययन था और शरीर के स्नायुसंस्थान (Nervous system) की व्याख्या करने में उनकी विशेष रुचि थी। बोर्ड पर रंगीन डायाग्राम बनाने में वे बड़े पटु थे। जब वे कहा करते थे कि 'Nervous system is the most interesting thing in the world' तब हम लोगों की हंसी आदरभाव पर विजय पाकर दबे होठों से भी बाहर आ ज़ाती थी। जब वे एक बार पहाड़ पर सैर को गये थे तो उनकी मेमसाहब नें उनकी सबसे बड़ी तारीफ की बात यह लिखी थी 'Not a word of Psychology escaped his mouth.' कालिज के सीमित घण्टों से उन्हें सन्तोष न होता था। वे एम.ए. क्लास को तो अपने बंगले पर ही पढ़ाना पसन्द करते थे और जब वे अपने विद्यार्थियों को दूर से आते हुए देखते थे तभी वे 'भ्रमर पानि' हो अधीर हो उठते थे। वे इतना भी विलम्ब नहीं सह सकते थे कि लड़के जरा घूमकर सदर दरवाजे से आयें। वे इस अधीरता से चिल्ला उठते थे 'come up men, jump up boys' मानों घर में आग लगी हो।

डू साहब ने कांट को बड़ी रुचि के साथ पढ़ाया था। कभी-कभी जब कोई बात समझ में नहीं आती थी तब बड़ी जल्दी बड़बड़ाने लगते थे 'I do not know whether the confusion is in my mind or in the mind of that Saddlers' son, (कांट

चमड़े की कांठी बनाने वाले का लड़का था) जब वे हमको सिगवर्ट लोजि पढ़ाते तब वे अपनी मेमसाहब को पास बैठा लेते और उसमें जो जर्मन शब्द आते उनका उच्चारण और उनकी व्याख्या उनसे कराते।

राजू साहब की प्रतिभा बिजली के समान थी जो एक क्षण में ही प्रकाश कर देना चाहती थी और इनकी प्रतिभा स्थिर शान्त पूजा के दीपक की भांति थी। वे अध्ययन में Short Cuts के कायल न थे। ठोस अध्ययन का अभ्यास मुझे उन्हीं के साथ पढ़ने से हुआ, फिर भी आरामतलबी ने इस अभ्यास को बढ़ने नहीं दिया। उनका देहावसान आगरे में ही हुआ था और उनका शरीर आगरा सिमेट्री की चिरशान्ति में शयन कर रहा है।

*****

सेवा के पथ पर
(मेरा दरबार-प्रवेश)

यद्यपि मैं परीक्षाओं के सम्बन्ध में 'शनैः विद्या च वितंच' के सिद्धांत में विश्वास करता था और अपने विषयों के विशेष अध्ययन के लिए अतिरिक्त मास की भांति कालिज में भी एक अधिक वर्ष देना श्रेयस्कर समझता था तथापि इस नियम के अपवाद स्वरूप (क्योंकि प्रत्येक नियम का अपवाद होता है) मैंने फिलासफी के एम.ए. के सम्बन्ध में अपने नियम को कुछ शिथिल कर दिया था और कालिज में अध्यापकी करते हुए भी परीक्षा में इस प्रकार उत्तीर्ण हो गया, जिस प्रकार हरिभक्त भवसागर को गोपद इव सहज ही पार कर जाते हैं।

वह समय उत्पादन-बाहुल्य (Mass Production) का न था। उन दिनों विवाह की कचौड़ियों अथवा फोर्ड कम्पनी की मोटरों की तरह एम.ए. वालों के घान के घान नहीं उतरते थे। 'सिंहन के लहंड़े नहीं साधु न चलें जमात'। प्रयाग विश्वविद्यालय से जिसके विराट उदर से अब चार और विश्वविद्यालय उत्पन्न हो गये हैं, केवल छः विद्यार्थी दर्शनशास्त्र के एम.ए. में बैठे थे, उनमें से केवल दो उत्तीर्ण हुए थे। इस प्रकार मैं थर्ड क्लास फर्स्ट नहीं तो, थर्ड-क्लास सैकिण्ड अवश्य था। इसके लिए मैं गंगा-तुलसी उठा सकता हूं, काशी तक शास्त्रार्थ के लिए तैयार हूं और यदि धन की पर्याप्त सहायता मिल जाय तो प्रिवी काउंसिल या फीडरेल कोर्ट या कोई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय हो तो सात समुन्दर पार तक मुकद्दमा लड़ने का साहस रखता हूं।

कालिज में एक साल प्रोफेसरी कर मैं अपना हक जमा चुका था। उस पद पर मैं बना भी रहता क्योंकि उन दिनों एम.ए. बरसाती मेंढकों की भांति गली-गली नहीं मिलते थे। फर्स्ट या सेकिण्ड डिवीजन की कोई पाबन्दी न थी। यदि कोई डिवीजन की बात पूछता तो मैं अपने शिकारपुरी मित्र की भांति कह देता लियाकत देखिये। कालिज की नौकरी लोमड़ी के अंगूरों की भांति अप्राप्य न थी, किन्तु उसमें एक बड़ी बाधा यह थी कि मुझ में तुलसीदास जी की-सी अनन्यता का अभाव था। मैं दो नावों में पैर रखना चाहता था। एम.ए. के साथ एल-एल.बी. के तीन अक्षर और जोड़ने का मोह संवरण नहीं कर सकता था।

मैं इस महत्वाकांक्षा को 'कीर के कागर लौं' छोड़ भी देता क्योंकि दर्शन-शास्त्र का विद्यार्थी होकर त्याग की क्रियात्मक परीक्षा में किसी से पीछे नहीं रहना चाहता था, किन्तु मेरे पूज्य, पितृ-चरणों ने 'कचं केशं हरतीति कचहरी' नाम की जिस संस्था में बाल सफेद किये थे उसके परम्परागत आदर्शों के अनुकूल एल-एल.बी. के विना मेरा अध्ययन उतना ही अपूर्ण रह जाता जितना कि दक्षिणा के बिना दान। एम.ए. के चक्कर में मेरी कानूनी नैया डूब चुकी थी। परमात्मा भी मेरा बेड़ा पार न लगा सका। मैं प्रीवियस में फेल होने का अस्पृहणीय गौरव प्राप्त कर चुका था। उसका इम्तहान तो विना कालेज एटेण्ड किये (लेक्चर तो मैं पहले भी एटेण्ड नहीं करता था) ही दे सकता था। सेण्ट जॉन्स कालिज के अधिकारी-वर्ग ईसाई होने के कारण बाईगेमी (दो विवाहों की प्रथा) के खिलाफ थे। उनकी दृष्टि में दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर के लिए कानून की ओर दृष्टिपात करना उतना ही पाप था जितना कि एक स्त्री होते हुये दूसरा विवाह करना। अतएव सेण्ट जॉन्स कालेज से मुझे विदा लेनी पड़ी।

एक साल के अनुभवी कानूनी विद्यार्थी बेकार कम बैठा करते हैं। कानून का पास करना तब और शायद अव भी अनन्य उपासना का विषय नहीं समझा जाता था। दूसरी साल पास तो हो ही जायेंगे 'बासी में क्या खुदा का साझा?' फिर स्वावलम्वी होने का सुख और गौरव क्यों छोड़ा जाय।

कानून के विद्यार्थी दूसरों की वकालत करना अपना न्यायसिद्ध अधिकार समझते हैं, फिर भस्मासुर की भांति इस अधिकार को भोलानाथ सदृश कानून के वयोवृद्ध गुरुदेव श्री नीलमणिधर पर क्यों न अजमाया जाय?

उस स्वतंत्रता के युग में विद्यार्थीगण हाजिरी के मामले में सत्य के साक्षात् अवतार अदालती गवाह से, जो सत्य, पूर्णसत्य और सत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं बोलते, कम सत्यपरायण नहीं होते थे। जिस रोज फीस दी जाती थी उसी रोज रजिस्टर में नाम लिखा जाता था। मुझ जैसे आलस्य-भक्त विद्यार्थी, जो गप्पों में रम जाना ही अपने जीवन का परम लक्ष्य समझते थे, बीस तारीख से पहले फीस नहीं देते थे क्योंकि वही फीस दाखिल करने की अन्तिम तिथि थी। प्रोफेसर महोदय रजिस्टर में चोहरी नि[illegible] (दो चर्म चक्षु और दो हिए के नेत्रों की बजाय पत्थर यानी पेबिल्स के चक्षु) गड़ाये हुए पूछते Were you present all the days? अर्थात् क्या आप पूरे दिनों उपस्थित रहे तो विद्यार्थी भी सज्जनों की-सी अधो-दृष्टि किये बड़े उपेक्षा भाव से कह देते 'Yes Sir' और कभी यदि सचाई का अधिक परिचय देना हुआ तो कह देते कि Except the 5th (पांचवी के सिवाय)।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी वकालत का भी अभ्यास कर लिया जाता था। आजकल

की सभ्यता में जब सभी कार्य प्रतिनिधियों द्वारा होते हैं, व्यवस्थापिका सभाओं में प्रजा के प्रतिनिधि कानून बनाते हैं, उसकी स्वीकृति बादशाह के प्रतिनिधि[1] देते हैं और उसकी व्याख्या वादी-प्रतिवादी के प्रतिनिधि वकील करते हैं, हिन्दुओं में विवाह जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण अवसर पर किये हुए जीवन-भर पाले जाने वाले वायदों से लगाकर जन्म-मरण सम्बन्धी सभी संस्कार पूरियों से हित रखने वाले पुरोहित ही करते हैं, अंग्रेज लोग हाथों से न खाकर उनके प्रतिनिधि छुरी कांटों द्वारा ही भोजन अपने गले के नीचे उतारते हैं, और अब उनके अनुकरण करने वाले देशी साहब भी। ईसाई धर्म में पापों का दण्ड भी मानवता के प्रतिनिधि ईसा मसीह को मिला। तब बेचारी कानून की कक्षा में हाजिरी की क्या बात? वहां भी प्रोक्सी 'Proxy' क्यों न हो? कानून में तो प्रोक्सियों का ही खेल ठहरा। येनकेन प्रकारेण पास होने का तो नहीं इम्तहान में शामिल होने का वैधानिक अधिकार मिल ही जाता है।

कानून महासागर में उत्तीर्ण होने के लिए सायं-प्रातः भक्तिपूर्वक 'शीन्स गाइड' का पाठ करना सत्यनारायण की कथा से भी सुलभ उपाय था। उनके पाठ से 'परीक्षार्थी लभते डिगरीम्' की सिद्धि हो जाती थी। फिर फेल हुआ कानून का विद्यार्थी क्यों बेकार बैठे? 'बेकार मुबाश कुछ किया कर, कुछ न हो तो जूतियां सिया कर'।

मैं भी नौकरी की चाह में डाकखाने की आमदनी बढ़ाने में योग देने लगा, किन्तु रियासत की नौकरी मेरी गरुड़गतिगामिनी कल्पना और उच्छृंखलता स्वप्नों की दूरातिदूर सीमाओं से भी परे थी। 'मेरे मन कछु और है विधना के कछु और' की बात थी और विधना मुझसे कुछ अधिक विचारशील थे। इसलिए यंत्रारूढ़ की भांति (भ्रामयन् सर्व भूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया) मैं भी उनका इच्छानुवर्ती हो नाचने लगा (उमा दारु योषित की नाईं, सबै नचावें राम गुसाईं)। मैं उसी दैवी प्रेरणा के वश बिना किसी रोग के भी डाक्टर तृषार्तनाथसिंह से मिलने अस्पताल पहुंच गया। डाक्टर साहब बड़े लोकप्रिय थे और वे न प्राणों के हर्ता थे और न धन के। वे सेवाभाव से अपने कार्य को करते थे। उनके दर्शन करना मैं देवदर्शन से कम नहीं समझता था। संयोगवश डाक्टर साहब 'राउण्ड' पर गये थे। उनकी मेज पर अधिकारी वर्ग में सम्मान्य पत्र 'पायोनियर' सुशोभित था। हम गरीब लोगों को 'पायोनियर' देखना इतना ही दुर्लभ था जितना कि अमीर आदमी का स्वर्ग में जाना क्योंकि उसका चन्दा 48 रु. साल था। मैं कौतूहलवश पायोनियर के पन्ने उलटने लगा। उसमें छतरपुर राज्य के लिए दर्शन-शास्त्र के एक ऐसे अध्यापक की मांग थी जो पूर्वीय और पश्चिमी दर्शन में दक्ष (Well versed) हो। पश्चिमी दर्शन में तो मैं अपने को दक्ष कह सकता था क्योंकि

---

1. जब यह लिखा गया था तब अंग्रेजी शासन था।

घर के नाई से भी अधिक मौतविर विश्वविद्यालय का पट्टा (प्रमाणपत्र) मेरे पास था किन्तु पूर्वी दर्शनों के काले अक्षर मेरे लिए भैंस बराबर थे। पीछे से उसी अज्ञान के आधार पर भैंस का दूध पीने को मिला।

मुझे एक बार इनाम में आगरा कालेज से मेक्समूलर की 'सिक्स सिस्टम्स आफ इण्डियन फिलासफी' मिल चुकी थी। उससे केवल इतना ही काम लेता था कि लोग उसको मेज पर देखकर जान लें कि मैं इनाम पाने वाले विद्यार्थियों की गणना में हूं। उसके पन्ने मैं कभी-कभी पलट लेता था और शायद छओं दर्शनों के नाम मेरे स्मृति-पटल पर अंकित हो चुके थे। एक बार काशीपुरी में क्वीन्स कालेज के प्रिन्सीपल डा. वीनिस से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी निगाह में एक सदाशय और श्रद्धालु विद्यार्थी जंचने तथा उनको गुरु मानने का गौरव देने के लिये मैंने उनसे सलाह ली थी कि हिन्दू दर्शनों में विधिवत अध्ययन के लिए पहले कौन-सी किताब पढ़नी चाहिए। उनके मुखारविन्द से निकला था अन्नभट्ट का 'तर्क-संग्रह'। मैंने उनके शब्दों को उसी श्रद्धा से हृदयंगम कर लिया जैसे कि महात्मा कबीर ने स्वामी रामानन्द के मुख से निकले हुए राम शब्द को। मुझ में उस समय इतनी बुद्धि न थी और न सावधानी कि उनसे पूछता 'तार पर' अर्थात् उसके बाद क्या? यद्यपि मैं स्वयंपाकी (स्वयं पापी नहीं) ब्राह्मण न था जो रोटी पकाने के लिए आग पर्वत पर ढूंढता फिरता तो भी मैंने 'पर्वतो वान्हिमान धूमात्' का पाठ याद कर लिया था। पिताजी के मुख से 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय' वाला श्लोक कई बार सुना था। यह शायद श्रद्धालु भक्त के लिए 'भग्वद्गीता किंचिदधीता गंगाजललवकणिकापीता' के अनुसार भवसागर पार होने के लिए पर्याप्त होता किन्तु दर्शनशास्त्र के पण्डित कहलाने के लिए काफी न था। यह कुछ प्रेम का ढाई अक्षर तो था नहीं जो मुझे पण्डित बना देता।

फिर निराशा क्यों? का भावी लेखक होता हुआ भी मुझमें आशावाद अन्धसाहस की मात्रा तक नही पहुंचा था। मैं अपनी न्यूनताओं को कभी भूलता नहीं हूं। उस मानसिक साज-सामान के आधार पर उस गौरवपूर्ण स्थान को प्राप्त करने की आशा करना तो क्या उसके लिये अर्जी भी भेजना मैं इतना हास्यास्पद समझता था जितना कि ऊंचे पेड़ से फल तोड़ने के लिये किसी बौने का हाथ पसारना (प्रांशुलभ्ये फलेमोहादुद्राहुरिववामनः) मैं यह तब नहीं जानता था कि छतरपुर किस भूभाग में स्थित है। मैं समझता था हो न हो शायद राजपूताने में होगा। 'किमतः परं अज्ञानं!' परलोक में विचरने वाले दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी को इस दुनिया की बातों से क्या काम? फिर भी डाक्टर महोदय के प्रोत्साहन में आकर मैंने अर्जी भेज ही दी। 'अहो मूढ़ता या मन की।' मैं समझता हूं कि बाबा तुलसीदासजी को भी मधुमेह था इसीलिए यामनः (जामन) पुकारा करते थे।

मैं तो अर्जी देकर उसे ऐसे भूल गया जैसे सज्जन लोग अपने किये हुए उपकार को अथवा दूसरे के किये हुये अपकार को, लेकिन समय पाकर कर्म अपना फल देते ही हैं। एक महीने पश्चात् मुझे छतरपुर के प्राइवेट सेक्रेटरी का पत्र मिला। लिफाफा देखते ही उसका मजमून मेरे मानसिक क्षितिज में बिजली की तरह चमक उठा। मैंने समझा कि मेरा भाग्य जागा, डाक्टर रूपी देवता के दर्शन का फल मिल गया। लिफाफा खोलने पर अनुमान ठीक निकला। उस पत्र में उन्होंने पूछा था कि मैंने उनके पहले पत्र का उत्तर क्यों नहीं दिया। महाराज साहब मुझसे मिलने के लिये उत्सुक हैं। सेक्रेटरी साहब ने छतरपुर का रेल मार्ग बतला देने की कृपा कर दी थी। नहीं तो मुझे दो-चार आदमियों के सामने अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना पड़ता।

सम्भव है कि उन्होंने उल्लिखित पहला पत्र लिखा हो और ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि जैसा पीछे से मैं स्वयं प्राइवेट सेक्रेटरी होकर करने लग गया था कि यदि महाराज साहब किसी मुझ जैसे थर्ड क्लास आदमी[1] को बुलाने के लिए कहते तो मैं उनकी आज्ञा की अवहेलना कर जाता और महाराज के दुबारा कहने पर ही पत्र लिखता और महाराजा साहब को दिखाने को उसमें संकल्पित या कल्पित पहले पत्र का उल्लेख कर देता।

छतरपुर जाने की तैयारी होने लगी। मेरे पितृदेव ने मेरे भविष्य को देदीप्यमान देखने की शुभाकांक्षा से मेरी तैयारी में खूब दिलचस्पी ली। उन्होंने एक रियासती सज्जन से पूछकर मेरे लिये कुछ हिदायतें लिख दीं। उनको मुझे वेद-वाक्यों से भी अधिक महत्त्व देना पड़ा। वेषभूषा और ठाठ-बाट के ऊपर भी एक बड़ा नोट था। अचकन और चूड़ीदार पाजामा के अतिरिक्त उसमें चांदी की मूंठ की छड़ी और पम्प शू पहनने तथा साफा बांधने की हिदायत भी दी थी। बिना नौकरी के बन्धन में पड़े मैंने साफा बांधना तो कष्टकर समझा, किन्तु पम्प शू अवश्य खरीद लिया। सादा जीवन तथा मितव्ययता के निरन्तर उपदेष्टा मेरे पूज्य पितृदेव ने पेटेण्ट लेदर के पम्प शू खरीदने की सहर्ष अनुमति दे दी। पम्प शू वहां खूब काम आया क्योंकि महल में जूते उतार कर जाना पड़ता था भव्यता की कमी पूरी करने के लिए

---

1. हमें ठीक मालूम है, 'उग्रजी' को तो एक बार ऐसे अधिकारियों ने निमन्त्रण भेज भी दिया था मगर उनका उत्तर जिसमें उन्होंने महाराजा से मिलना अस्वीकार करते हुए भर्तृहरि का यह श्लोक लिखा था कि—"न नटा विटा न गायका नच सभ्येतरवाद कंचवः, नृप सद्मनिनाम के वयं कुचभारोन्निमिता न योपिताः"—मगर वह उत्तर मारे भय के छत्तरपुर राज्य के अधिकारी महाराजा के सामने न रख सके। कह दिया 'उत्तर ही नहीं आया' इसके बाद राजा ने पुनः विवश किया उन्हें पत्र व्यवहार करने को और उन लोगों ने माफियाँ माँग-माँग कर 'उग्रजी' से एक नम्र और सीधा पत्र राजा के लिये प्राप्त किया।

—वीणा सम्पादक

(यह लेख पहले वीणा में छपा था)

मेरे साथ एक नौकर भी कर दिया गया।

अलमति विस्तरेण। किस्सा कोताह मैं छतरपुर पहुंच गया, हिज हाइनेस महाराज साहब के सामने मेरी पेशी हुई। दरबार की सादगी ने मेरे सुख-स्वप्नों को चूर कर दिया। वह दरबार राजर्षियों का-सा था। फरुखावादी छपे हुए चन्दोवे के नीचे महाराज की आराम-कुर्सी थी। दाईं ओर दो पटों पर दो भव्य-मूर्तियां विराजमान थीं उनमें एक महाराष्ट्री शास्त्रीजी थे जो वशिष्ठोपम दिखाई देते थे, दूसरे थे कृशतनु, लम्बे शरीर वाले एक साधु जिनके शरीर की लम्बाई उनकी कृशता को बढ़ाकर उनके तपोधन होने का आभास दे रही थी। उनके लम्बे शरीर के अनुकूल उनकी धवल प्रलम्बमाना दाढ़ी थी जो उनको विश्वामित्र की अनुरूपता प्रदान करती थी। पास ही एक छोटी थाली में चार-पांच छोटी कटोरियों में लवंग आदि पान की सहकारी खाद्य-वस्तुएं रखी थीं। हुक्का वाला महाराज के मुख-मण्डल की गति का अध्ययन करता हुआ उसी के साथ निगाली को झुकाता जाता था।

बड़ी प्रसन्नता और कृपा भरी प्रसन्न मुद्रा से महाराज ने मेरा स्वागत किया। मेरी भेंट की हुई गिन्नी का स्पर्श करके माफ कर दी। वार्तालाप अंग्रेजी में शुरू हुआ था। दर्शन-शास्त्र में महाराज की गति तो बहुत अच्छी थी, अंग्रेजी भी बिना प्रयास के बोलते प्रतीत होते थे, किन्तु वे उन्नीसवीं शताब्दी के प्रभाव में अधिक थे। उन्होंने मुझसे पूछा—कि मैंने हर्वर्ट स्पेन्सर का अध्ययन किया है? मैंने नम्रतापूर्वक कहा कि इस बीसवीं शताब्दी में उनका अधिक मान नहीं है। उनकी द्विविधि मृत्यु हो चुकी है—भौतिक भी और यश सम्बन्धी भी। उनका यशः शरीर मरा नहीं है तो जराग्रस्त अवश्य हो गया है। महाराज ने बड़े आश्चर्य की मुद्रा धारण कर मुझसे पूछा कि बिना हर्वर्ट स्पेन्सर के पढ़े एम.ए. कैसे हो गये? मैंने कहा कि इस संसार में हर्वर्ट स्पेन्सर से अधिक महत्त्व के कई दार्शनिक हुए हैं। महाराज ने पूछा कि मैं किस दर्शन का अनुयायी हूं? मैंने रौब जमाने के लिए प्रेगमेटिज्म (Pragmatism) का नाम ले दिया। बहुश्रुत महाराज को अश्रुत पूर्व सिद्धांत सुनाने का तो श्रेय न मिल सका क्योंकि महाराजा प्रेगमेटिज्म का नाम सुन चुके थे, किन्तु उसका प्रभाव अच्छा पड़ा। महाराज पर मेरी विद्वत्ता की धाक जम गई। वे पूछने लगे कि तुमने बिना विलायत गये प्रेगमेटिज्म को कैसे जाना? (मुझसे 15 दिन पूर्व उनके यहां Lewis Dickenson नाम के एक अंग्रेज लेखक मेहमान होकर आये थे। उन्होंने महाराज से कहा था कि हिन्दुस्तान भर में प्रेगमेटिज्म के बारे में दो चार व्यक्ति ही जानते होंगे।) मैंने उत्तर दिया कि हम भारतवासी उनके दर्शनों में इतने पिछड़े हुए नही हैं जितने वे समझते हैं। मेरे गुरुदेव प्रेगमेटिज्म के ही गीत गाते हैं। अंग्रेजी दर्शनों का ज्ञान तो प्रमाणित हो ही चुका था। भारतीय दर्शनों के ज्ञान के लिए महाराजा बहुत उत्सुक तो नहीं जान पड़े तो भी मैंने प्रसंग निकाल कर गीता का एक श्लोक

और कठोपनिषद की एक श्रुति का कुछ अंश "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न च बहुधा श्रुतेन" बिना अटके कह डाला। उसको सुनते ही विश्वामित्र-स्वरूप रामा बाबा तो गद्‌गद् कण्ठ से महाराज को सम्बोधित करके कहने लगे, 'दयाल जे तो संस्कृत हू जानत हैं।' शास्त्रीजी ने धीरे से कहा, 'बड़े आस्तिक बुद्धि के मालूम पड़ते हैं।' शास्त्रीजी ने इतनी कृपा की कि उन्होंने मुझ से संस्कृत बोलना नहीं शुरू किया, न कोई शास्त्रीय प्रश्न पूछा, नहीं तो कलई खुल जाती। उनको शायद इतनी ही बात पर सन्तोष हो गया कि एक अंग्रेजी पढ़ा इतनी आस्तिक बुद्धि रखता है।

महाराज ने मुझको पान दिये। मेरे पिताजी के मित्र ने मुझे सब हिदायतों के साथ यही नहीं बताया था कि जब पान मिलें तब उसे उठने का संकेत समझना। मैंने उसे साधारण शिष्टाचार समझा और बैठा रहा। फिर शास्त्रीजी मेरी अज्ञता पर बड़प्पन के साथ मुस्कुराते हुए कहने लगे कि महाराज आपको कल फिर बुलायेंगे। बिना लक्षणा व्यंजना के ज्ञान के भी इस संकेत को सहज बुद्धि से समझ गया और सभा को राममय जान 'जोरिजुग-पाणी' सबको प्रणाम कर विजय-गर्व से प्रसन्न मुख अपने वास-स्थान को आ गया। मैं अपनी समझ से अग्निपरीक्षा में तो खरा उतरा किन्तु नौकरी का भाव-ताव किसी से नहीं किया। हां मुझे राज-मेहमान होने का गौरव प्राप्त हो गया। सम्मानित व्यक्तियों की लाग (सीधा[1]) जो एक पहलवान के लिए पर्याप्त होती मुझे मिलने लगी। महीने भर बाद फिर उन्हीं शास्त्रीजी की मध्यस्थता में मेरी नियुक्ति हो गई।

*****

---

1. सेर भर आटा, आध पाव बेसन, आध पाव सूजी, पाव भर घी, शक्कर एक पाव। यह मेरे और मेरे नौकर के लिए पर्याप्त था और रसोइया भी वहीं भोजन करता था।

'सेवाधर्म परम गहनो योगिनामप्यगम्य:'

छतरपुर में मेरे अट्ठारह वर्ष

नौकरी की जड़ें बहुत गहरी नहीं वतलाई जातीं। देशी रियासतें तो अस्थायित्व के लिए वदनाम हैं। कुछ लोगों का कथन है वहां के मुलाजिम घड़ी-घड़ी की खैर मनाते हैं। तांगे के आविष्कार के सम्वन्ध में एक किंवदन्ती है कि उसे पहले-पहल एक रियासत के दीवान ने वनवाया था जिससे वे राजदरबार से लौटते समय पीछे की ओर मुंह किए हुए यह देखते रहें कि कोई सवार या हरकारा उनकी वरखास्तगी का परवाना तो नहीं ला रहा है। बात सोलह आना ऐसी नहीं। 'बद अच्छा, वदनाम बुरा।' कम-से-कम स्वर्गीय हिज हाईनेस राजर्षि महाराजा सर विश्वनाथसिंह जू देव के समय (और शायद अब भी) छतरपुर राज्य नौकरी के अस्थायित्व का अपवाद वना हुआ है।

मैंने कई बार रस्सा तुड़ाकर भागने की कोशिश की, परम विनम्र भाव से महाराजा साहव से निवेदन किया "जो काम मैं करता हूं, उसे कोई मूर्ख से भी मूर्ख अधिक सफलता के साथ कर सकता है, मुझे घर जाने की छुट्टी दीजिए।" किन्तु उन्होंने यही कहा—"बड़े मूर्ख हो, जो ऐसा सोचते हो। प्रत्येक काम में व्यक्तित्व की छाप रहती है। प्राइवेट सेक्रेटरी का काम तो बहुत भारी है, मुझे जूते पहनाने का भी काम जो करता है, वही कर सकता है और कोई नहीं।"

मेरा तो यह अनुमान है कि देशी रियासतें पूर्णरूपेण अपरिवर्तनवादी (Conservative) होती हैं। वहां बन्धेज लगते देर नहीं होती और अगर बन्धेज बंध गया, तो शम्भु-शरासन या अंगद के पैर की भांति अटल हो जाता है जिसकी स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए राम या रावण-सा ही विश्व विख्यात योद्धा चाहिए। यदि श्रीमान महाराजा साहब रसोई में एक बार गुड़ की डेली मांग लें, तो चार या पांच वर्ष तक सेर-भर गुड़ का बन्धेज लगा रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

नौकरी तो क्या, वहां की मेहमानी में भी स्थायित्व था। 'एक रोज का मेहमान, दूसरे दिन का इन्सान, तीसरे दिन का बेईमान और चौथे दिन का हैवान' का मसला देशी रियासतों

पर लागू नहीं होता। वहां के मेहमान समय की अनन्तता में विश्वास रखते हैं। मेरी नियुक्ति के पश्चात् भी डेढ़ वर्ष तक मेरी लाग (भोजन-सामग्री) ईश्वर के प्रेम की भांति नित्यप्रति सूर्योदय के साथ आती रही। अब नागरिक स्थिति वैसी नहीं है। मितव्ययता की केंची मेहमानों की शीघ्र ही पतंग काट देती है।

ब्राह्मण वृत्ति धारण करते हुए भी मुझ में पूरा ब्राह्मणत्व नहीं आया था। मेरा उदर प्रेम पयोधि की भांति नाप-जोख के बाहर न था, जिसके सम्बन्ध में अन्नपूर्णानन्दजी के शब्दों में कहा जा सकता है—

दावा बहुत है इल्मे रियाजी में आपको,
बाम्हन का पेट आके जरा नाप दीजिए।

भोजन-सामग्री सम्मान के अनुरूप निश्चित होती थी, किन्तु सम्मान पाने पर जठराग्नि प्रायः मन्द पड़ जाती है। 'धनेक्षये दीप्यति जठराग्निः' किन्तु इसका उल्टा भी वहुत अंश में ठीक है, धन संचय होने पर जठराग्नि मन्द हो जाती है,* उसके पूर्ण प्रज्ज्वलित होते हुए भी मेरे लिए डेढ़ पाव घी भस्म करना टेढ़ी खीर ही था, उससे पीर-बवर्ची-भिश्ती-खर स्वरूप 'गरीबे' पण्डा का अवश्य भला होता था, किन्तु मैं ऐसा ब्राह्मण भक्त न था कि उसकी चिन्ता भी न करूं। दार्शनिक के नाते कुछ दिनों तो 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्' की समस्या की भांति मुझे भी यह प्रश्न व्यग्र करता रहा कि मेरा वेतन मुझे भोजन सामग्री की दक्षिणा के स्वरूप मिलता है या वह रोज का आटा-दाल वेतन के परिशिष्ट रूप में प्राप्त होता है? तर्कशास्त्र के विद्यार्थी को अन्वय-व्यतिरेक के सहारे इस निर्णय पर पहुंचने में देर लगी कि भोजन-सामग्री तनख्वाह के साथ लगी है, किन्तु उसका आवश्यक अंग नहीं, वह छिपकली की पूंछ की भांति सहज में अलग हो सकती है। मैंने महाराज और दीवान की खातिर-खुशामद कर भोजन-सामग्री की रकम तनख्वाह में शामिल कराली। मेरी तनख्वाह सत्तर से एकदम सौ हो गई और मैं महाराज के दार्शनिक सहचर (Philosophical Companion) का गौरवान्वित पद छोड़ कर उनका प्राइवेट सेक्रेटरी बन गया, गा-बजा कर काठ में पैर देना, स्वीकार कर लिया। क्लर्क, मुहर्रिर, बिल, रजिस्टर, टाइप राइटर के आडम्बर से सुसज्जित होकर मैं दफ्तरी (यानी दफ्तर से सम्बन्ध रखने वाला) बन गया। पीछे मुझे श्री शिवकुमार शर्मा, जिन्हें हम लोग गोस्वामीजी कहा करते हैं, असिस्टेण्ट मिले, लेकिन मैं अपनी अधिकार-लोलुपता-वश उन्हें पर्याप्त काम न दे सका। यह मेरे और उनके, दोनों के ही खेद का विषय रहा।

---

* अब तो एडलर (Adler) आदि मनोवैज्ञानिक यह वतलाते हैं कि मन्दाग्नि वाले भोजन की कमी की पूर्ति धनसंचय द्वारा कर लेते हैं।

वैसे तो अट्ठारह वर्ष में अट्ठारह ही शिशिर-बसन्त आये होंगे लेकिन मैं उनसे ऊबा नहीं, हर बसन्त नई छटा लेकर आता था। रियासत में रहकर इतना मूर्ख न रहा कि मुझे बसन्त की भी खबर न रहे, क्योंकि उस रोज धूम-धाम से शिवजी पर जल चढ़ाता और प्रायः नारद-मोह का नाटक भी खेला जाता था। सूर्य और चन्द्रदेव अपनी स्वर्ण-रजत रश्मियों के ताने-वाने से नित्य नई समस्याओं का जाल बुन देते थे।

प्राइवेट सेक्रेटरी के नाते मेरी निजी ड्यूटियां तो थी हीं, किन्तु तबेले के बन्दर की भांति दूसरों की अलाय-वलाय भी मेरे सिर पड़ जाती थीं। सब बात के लिये 'ऐसा क्यों?' का उत्तर मुझे ही देना पड़ता, यद्यपि मेरे पास किसी अफसर का वकालतनामा न था। वात यह थी कि दो एक बार मैंने अफसरों की वकालत स्वेच्छा-पूर्वक कर दी थी, क्योंकि मैं उनकी कठिनाइयां समझता था। इस वकालत के लिये कोई समय निश्चित न था। महाराज सुनते सबकी थे, करते अपने या अफसरों के मन की। किन्तु वे उस अफसर को, जिसके सार्वजनिक कृत्य जनता की समालोचना का विषय बने हों, उन आलोचकों से मिला अवश्य देते थे। इससे बहुत कुछ दोनों ओर की सफाई हो जाती थी। वैयक्तिक राजसत्ता में चाहे दोष हों किन्तु शासक की दया का लाभ भी प्रजा को मिल जाता है।

मेरे कर्त्तव्य दो प्रकार के थे—एक खासगत के, दूसरे रियासत से सम्बन्ध रखने वाले। खासगत से सम्बन्ध रखने वाले कामों में महाराज के पत्र-व्यवहार में मदद देना, विलों और पर्चों पर दस्तखत करना, मेहमानों की खातिर और उन्हें महाराज से मिलाना, मोटरों, घोड़ों और गायों के खर्च का हिसाब रखना आदि बहुत से काम शामिल थे।

रियासत से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों की भी सूची कुछ कम न थी। पत्र-लेखन में महाराज स्वयं बड़े कुशल-हस्त थे। लेख उनका बड़ा सुन्दर था फिर भी आवश्यक चिट्ठियों का मसौदा तैयार करा कर वे अपने प्राइवेट सेक्रेटरी का अस्तित्व सार्थक कर देते थे। महाराज के पत्र-लेखन का कार्य गर्मियों में प्रातःकाल के 4 बजे से और जाड़ों में 5 बजे से प्रारम्भ होता था। महाराज स्वयं चिट्ठी पर मुहर लगाते थे। किन्तु कभी-कभी यह काम मेरे सुपर्द हो जाता तो वह मुझे मसौदा तैयार करने से भी अधिक दुष्कर मालूम होता था।

प्राइवेट सेक्रेटरी का सबसे कठिन कार्य था मेहमानों की खातिरदारी और विदाई। यद्यपि इस कार्य का अधिकांश भार पण्डित माधव मिश्र और पण्डित रामनारायण पर रहता था तथापि इस कार्य में गुत्थियां पड़ जाने पर उन्हें सुलझाने के लिए प्राइवेट सेक्रेटरी का ही आह्वान किया जाता। महाराज के अतिथियों के आने की तिथि निश्चित रहती थी; किन्तु जाने की सदा अनिश्चित। तिथि को पीछे हटाने में पंचांग के पांचों अंग—तिथि, बार, योग,

नक्षत्र, करण तथा दिशाशूल-व्यतीपात, चन्द्रमा बहुत कुछ सहायता देते थे। कभी-कभी धोबी कपड़ा देने में देर कर इस पुण्य कार्य में सहयोग दे, उनको दो-एक दिन क्षीण पुण्य होने से बचा लेता था। मेहमानों को रियासत की मोटर से स्टेशन पर उतरने पर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति' का प्रत्यक्ष अनुभव होता होगा। मुझे भी नौकरी छूटने पर दो-चार दिन ऐसा ही लगा था।

बहुत से लोगों का मेहमानी एक तरह का पेशा बन गया था। वे छः महीने रह कर साल भर का बन्दोबस्त कर लेते थे। रियासत उनके लिये कामधेनु थी। महाराज भी इस फिजूल खर्ची से खुश न थे, किन्तु आंखों का शील-संकोच नहीं तोड़ना चाहते थे। बेमुरब्बती का काम दीवान और प्राइवेट सेक्रेटरी का था। वे लोग भी बिना शांति भंग किए जितनी काट-छांट कर सकते थे, करते। ऐसे मेहमानों में आत्मसम्मान की मात्रा बहुत अधिक थी। वह छुई मुई से भी अधिक परिकल्पनाशील था। उनकी रक्षा करना हम लोगों का धर्म था।

योरोपियन मेहमानों में कुछ तो अफसर लोग होते थे, और कुछ गैर अफसर। यद्यपि अफसरों के आने पर रियासत के अधिकारी-वर्ग की दौड़-धूप और चिन्ताओं का भार बहुत बढ़ जाता था तथापि उनके आने और जाने की तिथि निश्चित होने के कारण यह भार कुछ हलका हो जाता था। राजनीति विभाग के अफसर लोग मिष्टभाषी, कार्य-कुशल, वाक्पटु, कायदे-कानून के पाबन्द, मानापमान के सम्वन्ध में संवेदनशील, (अपने ब्रिटिश सरकार के) मतलब में चौकस और प्रायः राजा के हित-चिन्तक होते हैं। अधिकार-प्रियता, शिकार, कैम्प की सुविधा और मोटर-तांगों की यदा-कदा की बेगार इनकी कुछ कमजोरियां कही जा सकती हैं। सौभाग्यवश महाराज की वैष्णव-प्रवृत्तियों के कारण मुझे शिकार में सहयोग नहीं देना पड़ा।

गैर-सरकारी मेहमानों में हर एक टाइप के लोग मिलते हैं। कुछ तो थे प्रोफेसर मलबेनी और फादर डगलस के-से साधुवृत्ति वाले, जिन्हें नर-भूषण, लोचनसुखदायक कह सकते हैं। वे न ऊधो के लेन में थे, न माधों के देन में, और सदा प्रसन्न रहते थे। कुछ लोग गेस्ट-हाऊस को पाकशास्त्र की प्रयोगशाला बनाये रखना ही अपना दैनिक कर्त्तव्य समझते थे। एक महाशय जो कटग्लास के एक अदद की इजाजत लेकर अपने स्वार्थ से ग्लास का समूह-वाचक अर्थ (Collective sense) लगाकर रियासत को उसकी रक्षा के भार से मुक्त करना चाहते थे। एक देवी खज़राहे की प्रस्तर-मूर्तियों को अपनी एकान्त-साधना का विषय बनाना चाहती थीं। ऐसे लोगों से झगड़ा करना भी प्राइवेट सेक्रेटरी के पुनीत कर्त्तव्यों में ही था।

यद्यपि, जप, पूजा और अनुष्ठान का भार मेरे ऊपर न था, तथापि उसके छींटों से भी मैं अछूता न रहता था। उस विभाग का खर्च देख कर तो मेरी वणिक-बुद्धि कभी-कभी

विद्रोह करने लगती थी, फिर भी इतना सन्तोष था कि सव काम विधिवत् होता था। यश सम्वन्धी शास्त्रोक्त पात्रों का भी दो-एक बार आयोजन करना पड़ा था। उससे मेरी ज्ञान-वृद्धि हुई।

जिस अधिकार से मैं अपने को स्थायी समझता था, उसी अधिकार से परमा मेहतर भी वहां अचल था। दो बार सारी तपस्या को तुला में रखकर ही मैं दो मोटर ड्राइवरों को निकलवा सका। हर महीने एक टायर और चार ट्यूब का उन लोगों ने वन्धेज-सा बांध लिया था। उनका मील नापने का यंत्र सदा आउट आफ आर्डर रहता था। उनकी ऐसी कोई आवश्यकता न थी जो मोटरकार से पूरी न हो सके। मोटर के हुड के लिए नारियल का तेल मिलता था, जो उनके केश-कलाप को संभालने में भी काम आता था। मोटर के आवरों के कुरते या चद्दरें वनती थीं। एक मोटर-ड्राइवर को निकालने में मुझे ही पछताना पड़ा।

उसके स्थान में एक कम तजुर्बेकार ड्राइवर रख लिया। उसने महाराज की सोलह हजार की मोटर झांसी के पास नाव से नदी में गिरा दी कोई जान खतरे में नहीं आई, यही गनीमत थी। फिर भी महाराज ने इतना ही व्यंग्य किया—"और वदल लो ड्राइवर!" मेरे ऊपर सैंकड़ों घड़े पानी पड़ गया। एक्सीडेण्ट तो तजुर्बेकार से भी होते हैं किन्तु उस समय ड्राइवर वदलना भूल ही सिद्ध हुई।

घर के नौकरों का तजुर्बा शायद वावा सूरदास को भी था। उन्होंने अपने को मुंह लगे नौकरों की तरह ढीठ कहा है—"तुव प्रताप-वल बदत न काहू, निडर भये घर-चेरे।" महाराज के यहां पूर्ण नौकरशाही थी लेकिन इतनी गनीमत थी कि वे अपने-ही-अपने विभाग में स्वतंत्र थे, उनका राजकार्य में कोई हस्तक्षेप न था। हर एक चीज में बंधेज था, चाहे उसका खर्च हो या न हो। प्राइवेट सेक्रेटरी को सबसे वाग्युद्ध कर आखिर में समझौता करना पड़ता था। यह जानते हुए भी कि सोडावाटर मशीन में घी की चिकनाई (Lubrication) नहीं दी जाती, पानी वाले पुरोहितजी को हर सप्ताह आध पाव घी देना ही श्रेयस्कर समझता था यद्यपि वह पुरोहितजी की इस उक्ति का मूल्य कि खास खुराक की चीज में तेल का हाथ अच्छा नहीं रहता का मूल्य भली-भांति जानता था।

प्राइवेट सेक्रेटरीशिप के अवसर में मेरे द्वारा कई वार मनोरंजक भूलें भी हुई हैं। एक बार आगरे से तार देकर बीस सेर मोंठ की दाल मंगवाई। मेरा अधिक दोष तो न था, किन्तु आगरे से ही मंगाने के कारण रियासत के हितचिन्तक ने, जो वहां रहते थे, उसे दाल-मोंठ समझा। बीस सेर दालमोंठ आ गई। भाग्य से डाइबिटिक लोगों की कमी न थी। डाक्टर भट्टाचार्य की सिफारिश से उसके ठिकाने लगने में देर न हुई। महाराज रेल की आई हुई वस्तु अपवित्र समझते थे।

महाराज रहते तो बहुत सादे वेश में, लेकिन चमक-दमक पसन्द करते थे। सनूवीम का एडवरटिज़्मेंट देखकर वे यह न समझे कि उस का रंग सुनहला होगा, किन्तु मंगा लेने पर बिल्कुल भंवर-काली निकली। बड़ी हंसी रही। महाराज साहब ने नामों की निरर्थकता बताते हुए 'कंडा बीने लच्छमी' वाली कहावत सुनाई।

यह सब फिज़ूलखर्ची होते हुए भी महाराज बड़े खर्चों में सचेत रहते थे। बाहर के सौदागर आते थे। हजारों का सामान पसन्द होता। कई दिन सामान की उलट फेर की जाती, आखिर लिया उतना ही जाता था जितनी गुंजाइश होती। महाराज के पैर सौर से बाहर नहीं निकलते थे। वैसे भी वे लम्बे क़द के न थे। खर्च के सम्बन्ध में वे हम लोगों की राय मान्य समझते थे। एक बार एक अंग्रेज सौदागर ने उनसे पूछा—"आप महाराज हैं, या आपका प्राइवेट सेक्रेटरी?" महाराज ने हंसते हुए उत्तर दिया—"हूं तो मैं ही महाराज, किन्तु जहां तक रुपए पैसे का मामला है, मैं अपने दीवान और प्राइवेट सेक्रेटरी के शासन में चलना पसन्द करता हूं ताकि आखिर में मैं उन्हें जिम्मेदार ठहरा सकूं।" सौदागर अपना-सा मुंह लेकर रह गया।

रियासत की नौकरी में यदि कोई कठिनाई थी, तो केवल इतनी कि अक्सर विपरीत हित के लोगों को प्रसन्न रखना पड़ता था। अपरिवर्तनशील पंडित और साधुओं तथा प्रगतिशील दीवानों और पोलिटिकल अफसरों को एक साथ खुश रखना कठिन कार्य था। यद्यपि दीवान और महाराजा, महाराजा और पोलिटिकल एजेंट में कोई विशेष संघर्ष तो नहीं रहता था, तथापि इन दोनों की रुचि के बीच में सन्तुलन रख कर ही कोई राज-कर्मचारी सफल हो सकता था। मैं नहीं कह सकता, इस सन्तुलन में मैं कहां तक सफल रहा? महाराज के देहावसान के पश्चात् मुझे अवकाश ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि उनके साथ ही उनके प्राइवेट सेक्रेटरी का पद भी गया। मुझे अट्ठारह वर्ष में बीस वर्ष के हक की पेंशन मिल गयी। इसके लिए मैं अधिकारियों का अनुग्रहीत हूं। छतरपुर की मधुर स्मृति चिरकाल तक रहेगी। मैं अब भी बिल्ली की भांति छतरपुर की प्राइवेट सेक्रेटरी पद की कठिनाइयों तथा सुविधाओं के स्वप्न देख लेता हूं।

*****

सैर का मूल्य

मेरी चोरी

चोरी चित्त की भी होती है और वित्त की भी। यद्यपि साहित्यिक लोग चित्त की चोरी को अधिक महत्ता देते हैं, तथापि मैं आपको वित्त की ही वात सुनाऊंगा लेकिन घबड़ाएं नहीं ऐसी बात नहीं कहूंगा जिसमें आपको दिल थामने की जरूरत पड़े। अपनी करुणा का उद्रेक फिर किसी दिन के लिए सुरक्षित रखिए।

मेरा नुकसान तो थोड़ा नहीं था। 'मुर्गी के लिए तकुए का ही घाव बहुत होता है' किन्तु उस पर सम्मोहन कला-विशारद परम भिषगाचार्य महाकाल समय के जादू भरे हाथ का सर्व-संकट हरण स्पर्श हो चुका है। यह वात इतनी पुरानी हो गई है कि सन्-संवत् भी भूल चुका हूं। शायद 1927-28 का जमाना था। तब तक मैं अनाथ नहीं हुआ था, मेरे माता-पिता जिन्दा थे। वैसे भी मैं नौकरी की नाथ से नथा हुआ था। उन दिनों मैं छतरपुर राज्य के निजी अमात्य (Private Secretary) के गौरवान्वित पद को अपने अकार्य-कुशल अस्तित्व से लज्जित कर रहा था। मालूम नहीं कालिदास ने किस भावना से प्रेरित होकर मेघदूत लिखा था, किन्तु मेरा अनुमान है कि वे किसी राज्य में नौकर होंगे, और उन्हें छुट्टी न मिली होगी, तभी उनके हृदय में मेघ को दूत बना कर अलकापुरी नहीं, तो काश्मीर (जहां के वे रहने वाले बतलाये जाते हैं) भेजने की कल्पना जाग्रत हुई होगी। मेरे आश्रयदाता स्वर्गीय हिज हाईनेस राजर्षि सर विश्वनाथसिंह जू बड़े उदार थे, लेकिन छुट्टी देने में उतने ही कृपण भी थे। और चीजें तो विना मांगे ही मिल जाती थीं, क्योंकि मेरा संकल्प था कि सिवाय छुट्टी के और कुछ न मांगूगा, किन्तु मौत की भांति छुट्टी मांगने पर नहीं मिलती थी। नौकरी के स्वर्ण-पिंजरे में वन्द कीर-सी मेरी स्वच्छन्द आत्मा विवशता से छटपटाया करती।

मेरे जीवन में वह अवस्था आ चुकी थी जब क्षुद्र नदी की भांति खल लोग बौरा उठते हैं। और उनके हृदय में वैभव और विलास की इच्छा उठने लगती है। जलेसर के मकान के लिए थोड़ा कर्जा लिया था वह अदा हो चुका था। बुन्देलखण्ड ऐसी फ़िज़ूलखर्ची-प्रूफ जगह है कि वहां के धन-संग्रह के लिए बेईमानी की भी जरूरत नहीं पड़ती। कुछ वणिक

जाति की स्वाभाविक व्यवसाय बुद्धि, कुछ स्त्री के आभूषण प्रेम और कुछ कन्या के विवाह की दूरदर्शिता से मैंने पूरे पेंतालीस तोला सोना खरीद लिया था। चार-पांच सौ रुपया भी पास-बुक में था, हृदय में जवानी की उमंग थी। जब छतरपुर में बहुत से अंग्रेज दम्पतियों को सैर के लिए आते देखता था तब मैं सोचने लगता था कि मैंने ही राम के कौन से बैल मारे हैं जो इस सुख से वंचित रहूं। महाराज के साथ सैर की थी किन्तु उसमें सपरिवार होने का सुख और गौरव कहां? दूसरे की अधीनता में सुख का उपभोग आत्म-भाव की तुष्टि नहीं करता। महाराज के साथ का सफर महाराज के लिए सैर थी। किन्तु मेरे लिए घोर-कठोर कर्त्तव्य था। बुद्ध गया में पण्डाओं के सुफल बोलने के भाव-ताव में इतना भी समय न मिल सका कि बुद्ध मंदिर देखने की चिरसाध को पूरा कर सकता—मेरे पितृचरण वर्तमान थे इसलिए गया में मेरी और कोई उद्देश्यपूर्ति भी न थी। वैसे भी वे मेरी नास्तिकता में विश्वास रखते थे। इसलिए उन्होंने अपनी गया आपही कर ली थी। अस्तु।

ठाट-बाट के साथ सपरिवार बाहर जाने का सुअवर देखने लगा। मेरठ से मेरी धर्मपत्नी की भतीजी की शादी का निमंत्रण आया, वह उपेक्षणीय न था। यद्यपि काम के नाम तो मैं फली भी नहीं फोड़ता तथापि मेरी उपस्थिति वहां वांछनीय थी।

छुट्टी के लिये खींचतान होने लगी; महाराज साहब के सभी महत्त्वपूर्ण कार्य उसी मुहूर्त के लिए रुके हुये से जान पड़े।

नरेशों की चाकराधीनता, जिसके बल मैं अपना स्थान सुरक्षित समझता था मुझे अखरने लगी। दीवान साहब पण्डित सुकदेव बिहारी मिश्र के मेरे कार्य के अपने ऊपर ले लेने के वचन देने पर (ऊंचे पद वाले नीचे वाले की एवजीदारी बहुति कम करते हैं, किन्तु 'कभी नाव पर लढ़ी और कभी लढ़ी पर नाव' के न्याय से उन्होंने यह कार्य किया था) मुझे छुट्टी मिली।

मैं तो "अष्टअपाली दारिद्री जब चाले तब सिद्ध" का मानने वाला था, किन्तु महाराज साहब सायत के उपासक थे। उन्होंने स्नेहवश मेरे लिए भी सायत देखने का कष्ट किया। मेरे लिये चौथा चन्द्रमा था जो यात्रा के लिये अनिष्टकर समझा जाता है लेकिन स्वतंत्रता के आवेश में चौथे चन्द्रमा तो क्या, आठवें चन्द्रमा की बात नहीं मानता। मैंने समझा मेरे रोकने के लिये बहाना ढूंढ़ा गया है। मैं बालक तो न था किन्तु अवस्था के हिसाब से महाराज के सामने बालक ही था। मेरे बाल-हठ के सामने महाराजा का राज-हठ न चला क्योंकि मेरी धर्मपत्नीजी मायके जाने की प्रसन्नता में तिरिया-हठ का संयोग दे रही थीं।

परमेश्वर के घर तक पहुंचने के अनेकों मार्ग हैं किन्तु छतरपुर से अपने घर पहुंचने के दो ही रास्ते थे—एक सीधा आगरा होकर और दूसरा फेरफार का कानपुर होकर। आगरे

का रास्ता घर की मुर्गी की तरह (मैं मुर्गियां नहीं पालता हूं) आकर्षणहीन हो गया था। नवीनता के उपासक के लिये जब "सैर कर दुनिया की गाफिल जिन्दगानी फिर कहां? जिन्दगानी गर रही तो नौजवानी फ़िर कहां?" की उमंग हृदयोदधि में विलोड़ित होने लगी तो फिर नये मार्ग से जाने का लोभ संवरण करना कठिन था। उस मार्ग के एक-एक लाभ वृहदाकार धारण कर मेरे सामने आने लगे। कानपुर के लिए महोबा होकर जाना होगा, आल्हा ऊदल की वीर भूमि के दर्शन होंगे। इतिहास-प्रसिद्ध कीर्तिसागर देखने को मिलेगा। शायद यदि जाना चाहूं तो रामपद-अंकित चित्रकूट की पुण्य-भूमि में भव-ताप-शमन करने का सुअवसर मिल जायेगा, नहीं उधर के पावन समीर का एकाध झौंका तो लग ही जायेगा। कानपुर में पाप प्रक्षालिनी, कलिमल-विध्वंसिनी, पुण्यतोया भागीरथी के निर्मल सलिल और मज्जन और पान का अलभ्य लाभ मिलेगा।

इन सबसे बढ़कर एक बात और थी वह यह कि कानपुर में एक सज्जन रहते थे जिन पर मेरे चार हजार रुपये की डिग्री थी, और इसके इजरा कराने की कानूनी मियाद तीन चौथाई मेरे सौजन्य और दयाभाव के वश और एक चौथाई आलस्य के कारण जाती रही किन्तु मेरी समझ में इसकी नैतिक मियाद तब भी बाकी थी। उनका पता ठिकाना तो इससे अधिक नहीं मालूम था कि वे घी की दुकान करते हैं किन्तु चलते-फिरते उनके दर्शन होने की दूरस्थ सम्भावना अवश्य थी। इस विचार में कुछ अधिक तत्व ही नहीं था किन्तु अपने को धोखा देना तथा अपनी फिजूलखर्ची पर उपयोगिता का आवरण डालने के लिये यह ख्याल अच्छा था। उस मार्ग से जाने में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-रूपी चारों पदार्थ मेरे करतल होने की सम्भावना थी। फिर क्या था? 'सब यानन तें श्रेष्ठ अति द्रुतगतिगामिनि कार' का आवाहन हुआ। महोबा की सड़क कुछ खराब थी। वैसे तो उधर जाने के लिये ड्राइवर लोग प्रायः आनाकानी किया करते थे, किन्तु मेरे साथ उनका अफसर मातहती का ही नहीं वरन् श्रद्धाभक्ति का भी सम्बन्ध होने के कारण चक्रपाणि ड्राइवर ने भी मना नहीं किया। मालूम नहीं स्वयं विष्णु भगवान ही मुझे काल के गर्त में लिये जा रहे थे। जाने के लिये मेरा असवाब भी इतना सुडौल बंधा था कि मुझे उस पर गर्व होने लगा। मैं भी अपनी निगाहों में बड़ा जंचने लगा। 'वक्रतुण्ड महाकाय' का स्मरण कर मोटर पर सवार हुआ और मारुत तुल्य वेग से स्टेशन पर सामान उतरा और उसके साथ हम लोग भी उतरे। मेरे चाकर राज भी मेरे साथ थे। उन्होंने भोजनादि की सुविधा कर दी। रात को सवार होकर सुबह नौ बजे कानपुर पहुंचे। यद्यपि कानपुर में कई जान-पहचान के लोग थे तथापि उन पर परिवार का भार डालना मैंने नीति के विरुद्ध समझा। सराय और होटल मुसलमानी और अंग्रेजी आधिपत्य के चिह्न होने के कारण प्राचीनता के धार्मिक में पले हुये मनुष्य के लिये वर्ज्य-से थे "येषा क्वाति गतिर्नास्ति" ऐसे अशरण लोगों को काशी की भांति शरण लेने वाली धर्मशाला का

आश्रय लिया गया। धर्मशाला के चुनाव में ब्रह्म-वाक्य और डाक्टर-वाक्य की तरह तांगे वाले का वाक्य प्रमाण माना गया।

आनन्दराम की धर्मशाला में मनचाहा स्थान मिल गया। उन कमरों का घर का-सा वातावरण था। दीवारों पर किसी रमणी के मांगल्य-सूचक चित्रण से अनुमान होता था कि यहां पर किसी का विवाह भी हुआ था। भोजन करके कल्पना-शक्ति कुछ बढ़ जाती है। हाल ही में हम लोगों ने एक कहानी पढ़ी थी, जिसमें एक सज्जन की रेल में चोरी हो गई थी। चोरी के अनुसन्धान में उन्हें एक महीना स्टेशन पर ही ठहरना पड़ा, और उनकी लड़की का विवाह वहां के स्टेशन-मास्टर के लड़के से हो गया था। कहानी का चोरी का भाग तो छोड़ दिया और सोचने लगा हमारी लड़की के लिए सुयोग्य वर मिल जाय तो उसका इसी धर्मशाला में विवाह कर दिया जाय। विवाह के लिए हमारे पास ट्रंक में पर्याप्त-सा धन था। हम भूल गये थे कि दीवार के भी कान हुआ करते हैं। धन का अस्तित्व बहुत-सी बातों को भुला देता है, फिर यह तो जरा-सी बात थी। पांच बजते ही तांगा मंगाया गया। उसके लिये हम लोगों की संख्या कम थी। सोचा सुख-दुख के साथी चाकर को भी सैर के लाभ से क्यों वंचित रखा जाय। आखिर तांगे में जगह छोड़ने में कौन-सी बुद्धिमानी है? उस समय कोई मुझसे यह कहने वाला न था "अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि त्वं मे"।

नौकरी की जी उबाने वाली कार्य-प्रणाली से छुट्टी पाने की प्रसन्नता स्वतंत्रता के आवेश और सैर के शौक में उन साधारण बातों को भी भूल गया था, जिनका मैं सदा ध्यान रखता था। अपने पसीने की कमाई का घनी-भूत सार मेरे लिए कोहिनूर से भी नयनाभिराम और मूल्यवान् पेंतालीस तोले के स्वर्ण-खण्ड को मैं जी-जान से प्यारा तो नहीं, किन्तु किसी गोपनीय रहस्य की भांति सुरक्षित रखता था। छतरपुर में उसके कारण घर सूना नहीं छोड़ता था। जिस बक्स में यह द्रव्य रखा जाता था उसका स्पर्श मेरे सर्वतोभद्र ओर सर्वतोगति विश्वस्त चाकर (उसका नाम भरोसा था) के लिए भी वर्ज्य था। हां तो उस द्वादस-वर्षीय चाकरी-वारिधि की अमूल्य मणि की रक्षा के लिए नौकर भी न छोड़ा। मेरी धर्मपत्नी के मन में शंका की क्षीण रेखा आई थी, वह भी बातों के पारावार में जल की चल लहर और खल की प्रीति की भांति स्थिर न रह सकी। मेरे कमरे से एक कमरा मिला हुआ था। देवीजी पर कर्त्तव्यशीलता की धाक जमाने के लिए उसमें भीतर से ताला डाल दिया था। बाहर भी मजबूत ताले से कमरा सुरक्षित कर दिया। खजाने के प्रहरी की भांति उसे दो-चार बार खींच कर देख लिया था। इससे अधिक और सावधानी क्या?

मेरे कमरे के दोनों ओर कुछ सज्जन, जो दुग्ध-फेन चन्द्र-ज्योत्सना और गांधीजी के

चरित्र तथा यश से भी उज्ज्वल चन्द्रमा के किरणजाल से भी हलके और झीने तथा गंगाजी के प्रातः समीर प्रेरित लघु-लघु लहरियों से उर्मिल (चुन्नटदार) सफेद बाइल के कुर्ते पहने थे, ठहरे हुये थे। उनके गले में चमकती-दमकती स्वर्ण शृंखलाएं महेश की व्यालमाला की भांति शोभा दे रही थीं। उनका अस्तित्व रक्षा की गारन्टी थी। मैं आशावादी और मानवजाति की श्रेष्ठता में विश्वास करने वाला था, फिर मेरे मन में शंका क्यों स्थान पाती?

हम लोग सैर को चले। क्या देखें और क्या न देखें के सम्वन्ध में भी तांगे वालों की बात को आप्तवाक्य मान कर उनकी मायारूपिणी इच्छा के वशवर्ती यंत्रारूढ़ की भांति घूमने लगे। जिसे उन्होंने कह दिया 'अवसि देखिए देखन जोगू' वही हमारे लिए परम दर्शनीय बन गया। उनकी रुचि लोक-रुचि की प्रतीक थी।

जब कभी मैं घन्टे के हिसाब से तांगा किराए पर करता हूं तभी मुझे Time is money (समय ही धन है) की सत्यता में विश्वास होता है, किन्तु उस समय जब रुपये की परवाह न थी, जो उसके पर्याय समय की कब चिन्ता होती? मैं तो अनन्त काल तक घूमता ही रहता। तांगे वाले का तो एक-एक क्षण दुधार गाय बन रहा था। किन्तु मेरी छोटी वालिका ने रुदन की ठानी। वह समय का मूल्य जानती थी। उसके सोने का समय हो गया था।

हम लोग धर्मशाला लौटे, असबाब पर एक उड़ती हुई निगाह डाल कर थके-मांदे कमरों के आगे सो रहे। बड़ी स्वस्थ निद्रा आई। प्रातः काल गंगा स्नान के लिए प्रस्थान करने वाले ही थे, ख्याल आया कि कुछ रुपया और ले लें, लौटते समय बाजार से कुछ सौदा-पत्ता भी कर लेंगे। देवीजी एक साड़ी खरीदना चाहती थीं। बक्स देखा, ताला-खुला था। सोचा गलती से खुला रह गया होगा। रुपयों की थैली की तरफ हाथ डाला, वह गायब! सुनहली जेवर के डब्बे की ओर हाथ बढ़ाया तो वह भी नदारद! सोने के ढेले की गन्ध भी न मिली। यदि कपूर का ढेला होता तो कुछ दिनों तक कपड़ों में ही उसकी गन्ध रहती। देवीजी का चेहरा फक पड़ गया। 'लो! अब क्या करोगे, चोरी हो गई।' आश्चर्यमुद्रा धारण कर मैंने भी चोरी शब्द की प्रतिध्वनि कर दी। प्रकृतिस्थ होने पर देवीजी को धीरज बंधाते हुए कहा—'अभी पुलिस को लाता हूं। ऐसी बात नहीं कि पता न लगे?'

मैं उन्हें वहीं छोड़ कर पूछता-पाछता थाने की ओर लपका जहां जिधर देखूं वहीं सन्नाटा। दरोगाजी कहां हैं? एक बमकेस की तफ्तीश में गये हैं। छोटे दरोगाजी हैं? 'कोर्ट साहब के यहां गये हैं।' कोई मुहर्रिर, मुन्शी, ख्वांदा, कान्सटेबिल रिपोर्ट लिखने वाला न मिला। मैं झुंझला कर कोतवाली की तरफ जाने ही वाला था कि छोटे दरोगाजी आ गये। उनसे मैंने अपना दुखड़ा रोया। उन्होंने सहृदयतापूर्वक सुनने के बजाय मेरे ऊपर अविश्वास प्रकट किया। इतना सोना कहां से आया? रियासत की नौकरी का नाम लिया, तो भेद भरी दृष्टि से कहने

लगे 'तभी आपको कुछ परवाह नहीं है! छोड़ कर चल दिये सैर करने!' मुझसा निराभिमान पुरुष भी ऐसी अपमानजनक बातचीत न सुन सका। मैंने जरा कड़े स्वर से कहा—'यदि आपको रिपोर्ट लिखनी है तो लिखिए नहीं तो मैं जाता हूं। मेरे पास फ़िजूल वक्त नहीं है।' वे मेरे साथ धर्मशाला गये। दो-एक आदमियों के बयान लिये, एकाध जगह सामान इधर से उधर कराया, गालियों का कोष खाली किया; बस तफ्तीश की खाना-पूरी हो गई। मैं डी.एस.पी. के यहां भी गया। छतरपुर की प्राइवेट सेक्रेटरी शिप के कार्ड की चोरी नहीं हुई थी। उसके बल पर डी.एस.पी. के बंगले में तुरंत प्रवेश मिल गया। उसने बात-चीत तो सहृदयता से की, लेकिन किसी विशेष अफसर को तैनात करने से इन्कार कर दिया। राजनीतिक जुर्मों (Political Crimes) की छान-बीन में अफसर अधिक व्यस्त थे। बंगले से निकलतें ही चपरासी ने इनाम के लिए सलाम किया बड़ा गुस्सा आया, लेकिन करता भी क्या? हारे जुआरी की भांति तांगे पर आ बैठा।

दूसरे दिन नौ बजे से तीन बजे तक इन्तजार करने के बाद कोतवाल साहब के दर्शन हुए। बड़ी दीनता धारण करने पर उन्होंने एक नवयुवक इन्सपेक्टर को मेरे साथ भेजा। उसकी सलाह से मेरे पड़ोस के सफेद-पोश लोगों की कलकत्ते के पते पर तलाशी के लिए वहां के सुपरिंटेण्डेण्ट महोदय को तार दिया गया, वहां से जवाब आया कि कलकत्ते में वह गली ही नहीं है। मैं अपना-सा मुंह लेकर रह गया।

छतरपुर से माल खरीदने आये हुए 'पुरोहितजी ने परिस्थिति का अध्ययन कर मुझे बतलाया कि चोरी किस तरह हुई होगी। सींक की ओट पहाड़ की बात निकली। मेरे कमरे से मिले हुए कमरे के बीच में जो किवाड़ थे उनमें देशी तरह की सांकल थी। उसके कुण्डे के छोर पीछे की ओर मुड़े थे, वे नरम लविया के थे, सहज ही में पीछे से सीधे किए जा सकते थे। कुण्डों के पीछे ठोंक कर किवाड़ खोलने में विशेष बुद्धिमानी की जरूरत न थी। उस काम को मैं भी कर सकता था। मेरा अज्ञानतिमिरान्ध दूर हो गया। बेचारा ताला क्या करता? चोरी भी एक कला[1] है।

दो दिन की छान-बीन में पता चला कि उस रोज ठगों का एक दल कानपुर आया था। उसने जुग्गीलाल कमलापति के यहां, कलकत्ते की दुकान से यह तार दिलवाया था कि उस गोल के एक व्यक्ति विशेष को पांच हजार रुपये दिया जायं। उनका मुनीम उस झांसे में नहीं आया। वार खाली गया। वे तो मुनीम की सतर्कता से बच गये, मैं गरीब मारा

---

1. इसी कला से चमत्कृत होकर मैंने 'चोरी : एक कला' शीर्षक लेख भी लिखा है। वह पुस्तक के अन्त में दिया गया है।

गया। पांच हजार नहीं तो पच्चीस सौ से कुछ ज्यादा चोर के हाथ लगे। मृच्छकटिक के नायक चारुदत्त की भांति मैंने भी सन्तोष कर लिया कि चोर हमारे घर से निराश नहीं गया। उसकी विद्या सफल हुई वह जरूर शायद देख कर चला होगा।

तीन रोज की इक्के-तांगे ही दौड़-धूप और तारवर्की में मेरी जेव का शेष भार आधा रह गया, और जब जलेसर जाने मात्र का किराया मेरे पास बचा, तो दो दिन का स्थगित गंगा-स्नान का कार्य पूरा कर मैंने जलेसर का टिकट कटाया। जलेसर से मेरठ आया वहां मेरी देवीजी के भाई साहब ने हम लोगों को एक कमरा दिया उसके लिए वे एक छः लीवर का मजबूत ताला भी देने लगे। ताला देख कर मुझे भाग्य की विडम्वना पर हंसी आई। जब कुछ माल ही न रहा, तब ताले की क्या जरूरत?

मालूम नहीं मेरी चोरी क्यों हुई? पूर्व जन्म के पापों के उदय होने से या इस जन्म की गफलत के कारण? जो कुछ भी हो, कनक से सौगुनी कनक की मादकता का नशा हिरन हो गया! छुट्टी लेने और चोरी होने का यही फल हुआ कि मैं अपना काम-काज रुचि और तन्मयता के साथ करने लगा।

"कोपोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः"

*****

पट परिवर्तन

छतरपुर से विदा और आगरे में घर की तलाश

यद्यपि गुरुजनों ने चाकरी को निकृष्ट कहा है तथापि स्वर्गीय महाराज की कृपा और उनके सौजन्य से नौकरी का जुआ बहुत मुलायम हो गया था। आरम्भ में तो मैंने रस्सा तुड़ा कर भागने की कई बार सोची थी और कभी-कभी कवि न होते हुए भी स्वतंत्रता के स्वर्ग की कल्पना कर महात्मा तुलसीदासजी के 'कबहुंक हों यह रहनि रहौंगो' के अनुकरण में कुछ ऐसी पंक्तियां अपने गर्दभ-स्वर में गाया करता था–

कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो।।
भूलहुते नहिं, पुनि, मनि-दुर्लभ चाकर वृत्ति गहौंगो।।
आपुहि सासित रहि, पर-सासन में नहिं चित्त धरौंगो।।
ह्वै स्वाधीन, निरत निरधनता में सुख-मोद लहौंगो।।
आवागमन छांड़ि महलन को कुटिया मांहि वसौंगो।।
प्रातहि उठि-उठि नित प्राची में नभ लाली निरखौंगो।।
रूखी-सूखी खाइ सबन सों प्रेम-नेम निबहौंगो।।
नाथ-पधा बिनु कालिन्दीकूलन मांहि सुखी विचरौंगो।।

समय बीतने पर मैं नौकरी की लीक में पड़ गया और कैदी की भांति अपने बन्धनों से प्रेम करने लगा। मैं अपनी सन्तोषवृत्ति के कारण छतरपुर की नौकरी में विना मरे ही स्वर्ग देखने लगा था। यदि कोई मुझ से कुशल पूछता तो गर्व से कह देता कुशल क्या पूछते हैं कुशल से भी ज्यादह है, लेकिन मैं भूल गया था 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' मैं वैसे तो पुरुषार्थवाद में विश्वास करता हूं किन्तु 'यत्ने कृते यदि न सिद्धयति' तब मैं भाग्यवाद का अनुयायी हो जाता हूं। उसमें कुछ सन्तोष मिलता है।

महाराज साहब के दुःखद देहावसान होने पर मुझे नौकरी में आशंका अवश्य हुई किन्तु भक्त न होते हुए भी भगवान रामचन्द्र की उस मुखाम्बुजश्री का 'प्रसन्नता या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले बनवासदुःखतः' ध्यान कर मेरा चित्त विचलित नहीं हुआ।

पोलिटीकल एजेण्ट साहब तथा दीवानसाहब की प्रेरणा से प्रसन्नतापूर्वक कमी (Retrenchment) का कुठार चलने में प्रवृत्त हो गया। मैं समझता था कि इस सहयोग के कारण मेरी गर्दन शायद बची रहेगी लेकिन बकरे की मां कब तक खैर मनाती? स्वयं मौत के फरिस्ते को भी मौत का सामना करना पड़ता है। यद्यपि मैं प्राइवेट सेक्रेटरी के साथ रियासत में और कुछ भी था फिर भी मेरा प्रधान पद प्राइवेट सेक्रेटरी का ही था। महाराज के देहावसान के साथ उस पद का अन्त हो गया था। मुझे पोलिटिकल एजेन्ट का शिष्टतापूर्ण पत्र मिला। मुझे नयी आयोजना में स्थान न दे सकने का खेद प्रकट करते हुए उदार पेन्शन दिलाने का वचन दिया गया। पेन्शन देने में मेरे साथ उदारता हुई लेकिन नौकरी बनी रहती तो और भी अच्छा होता। उस पत्र को देखते ही मेरे शिष्य और मित्र पंडित रामनारायण (किसान-बालक) बोले 'लिखित सुधाकर लिखगा राहू' किन्तु मैंने उनको डांटते हुए कहा 'हुइ है वही जु राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावहि शाखा।' मैं उस पत्र को 'विधि कर लिखा को मेटन हारा' कह कर अपने जाने की तुरंत तैयारी करने लगा, किन्तु धीर होते हुए भी मन में एक बार यह भावना आई थी 'या खुदा यह आफत का प्याला मेरे सामने से टल जाय।' प्रभु ईसामसीह तक ने मौत के प्याले के टलने की प्रार्थना की थी, फिर अस्मदादिकानां की क्या गणना? लेकिन नौकरी छूटना मौत न थी और फिर पेन्शन भी तो थी। मैंने उस प्याले को मीरा की भांति भगवान का चरणामृत समझ पी लिया।

हर हाइनैस राजमाताजी ने मुझे अपने निजी कामकाज की देखभाल के लिए कुछ दिनों रोकने की इच्छा प्रकट की किन्तु मैंने उनकी कृपा का लाभ उठाना उचित न समझा क्योंकि 'स्थान भ्रष्टाः न शोभन्ते केशाः दन्ताः नखाः नराः।' रियासत के अधिकारियो ने मेरे साथ इतनी कृपा की कि जब तक मैं असबाब का प्रबन्ध करने में लगा रहा तब तक मुझे यह अनुभव नहीं होने दिया कि मैं किसी प्रकार से स्थानच्युत हूं। सवारी नौकर सब वैसे ही लगे रहे, आदर-सत्कार भी वैसा ही था लेकिन यह सब शोभा मुर्दे के कफन की सी ही शोभा थी, शव को घर से बाहर ही जाना पड़ता है। मुर्दे से मेरी दशा कुछ खराब थी। उसको आराम से लेटा रहना पड़ता है। मुझे उठकर खुद जाना था—आलस्य भक्त होते हुए भी मैंने अपने को उटाने में काफी जल्दी की।

मनुष्य नौकरी छूटने पर बेफिक्र नहीं हो जाता, उसे बहुत-सी नई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। सबको थोड़ी बहुत इनाम बख्शीश भी देना आवश्यक-सा हो गया था। शायद उससे ज्यादा, जो नौकरी लगने पर खर्च करना पड़ा हो। नौकरी लगने पर मैंने किसी को कुछ इनाम नहीं दिया था।

सबसे बड़ी समस्या असबाब और जानवरों की थी। असबाब इस तरह से बाहर निकला

मानों कुरकी हो रही हो। कुछ सामान बांटा भी। वह दृश्य ऐसा था मानों घर में आग लगी हो और लोग सामान ढोकर ले जा रहे हों। खैर, सामान स्टेशन तक ढोने के लिए रियासत से पूरी वार बरदारी मिली। जैसे तैसे स्टेशन पहुंचा। यद्यपि धनवान तो नहीं हूं, तथापि मैं बड़े आदमियों का सा आलस्य अवश्य रखता था। मैं यह चाहता था कि कोई मुझे और मेरे सामान पहुंचाने का ठेका ले ले; किन्तु ठेकेदार लोग सेवा-समिति के सदस्य नहीं होते। सामान की समस्या ने मेरी अन्य समस्याओं को भुला दिया।

स्टेशन मास्टर ने मेरा अंतिम संस्कार बहुत शीघ्र कर दिया; लेकिन यह समस्या थी कि सामान ले जाकर उसे रक्खूंगा कहां? मैं चाहता था कि जिस प्रकार महारास की रात्रि में चन्द्रमा की गति स्थगित हो गई थी, उसी प्रकार रेल की भी गति स्थगित हो जाय और जब मैं अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचकर निवास-स्थान तलाश लूं, तब ही रेल पहुंचे। मेरे एक मित्र ने पहले से ही यह आशंका की थी। उन्होंने मुझे उपदेश भी दिया था, कि पेश्तर मकान तलाश कर लो, तब सामान और घर के लोगों को ले जाना. किन्तु दो बार आने-जाने का कष्ट कौन उठाता? यदि जान-जोखों न हो तो मुझमें थोड़ी साहस-वृत्ति (Adventurous spirit) भी है और भक्त न होते हुए भी ईश्वर पर विश्वास है। सोच लिया राम बेड़ा पार करेंगे।

मेरा घर का भी एक मकान है। उसके निर्माण के लिए न मेरा प्रस्ताव था और न कोई प्रयत्न और पुरुषार्थ। मैं तो वर्तमान का ही ध्यान रखता हूं। न इस लोक के भविष्य का न परलोक के। अब अगर चैन से गुजरे तो मैं आकवत का नाम भी न लूं। पूर्वजों के स्थान से मुझे प्रेम नहीं। "तातस्य कूपायमितिब्रु वाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिवन्ति" किन्तु मैंने यह नहीं सोचा कि आजकल खारी जल भी मुश्किल से मिलता है। खैर, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं मैंने मित्र का कहना नहीं माना। मूर्ख और बड़े आदमी दोनों ही 'परोक्तं न मन्यन्ते' वाले सिद्धांत के अनुयायी होते हैं।

मैं रेल में सैकिण्ड क्लास में सवार हो गया। उस समय मानसिक वृत्ति कुछ ऐसी ही हो गयी थी कि नौकरी छूटने से मैं गरीब नहीं हो गया हूं। एक चाकर को जानवरों की सेवा के लिए छोड़ा और एक अपनी सेवा के लिए, क्योंकि हम सब चाकराधीन हैं और फिर जानवर भी हैं। उनका समानधर्मी होने के काण उनको मैं छतरपुर न छोड़ सका। न वे गुण में अच्छे और न रूप में, फिर भी अपने होने के कारण उनसे मोह था। उनकी कीमत से भी अधिक उनका भाड़ा देना पड़ा। रेल यथा समय आ गई। स्टेशन पर सामान उतारा, कुछ मेरे डब्बे में था और कुछ गार्ड के।

मकान तो निश्चित था नहीं जो एक दम चला जाता। इतनी ही गनीमत थी कि रात

को ट्रेन से नहीं उतरा। बीवी-बच्चों और मेज-कुर्सी सामान को भी, जो स्टेशन मास्टर के सौजन्य से मेल में भी लगेज के साथ बुक हो गया था, स्टेशन पर ही छोड़ा। मैं और मेरे चिरंजीव इष्ट मित्रों की सहायता से मकान की तलाश में निकले। यद्यपि हम दोनों भिन्न-भिन्न ओर गये तथापि एक ही स्थान में मिल गये। वे ही इने गिने मकान थे, जिनको सब लोग बतलाते थे।

मन में रईसी की बू समाई हुई थी। स्टेशन के पास के मकानों को तो इसलिए नहीं पसन्द किया कि रेलगाड़ी के धुंए से स्वास्थ्य खराब होगा और आवाज से निद्रा में बाधा पड़ेगी। "मैं ऋषि मुनि नहीं बनना चाहता था", गीताजी में कहा गया हैः—"या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी" शहर के मकानों में तो स्वास्थ्य और शान्ति के राम ही मालिक थे, दुमंजिला, तिमंजिला अवश्य थे, पक्के भी थे; नलदेव उनमें निरन्तर वास कर उनको शीलवान (सीलवाले) बना रहे थे।

मालिक मकान उनको कोई सन्दूक की उपमा देता, कोई कहता कि इसमें चोर की गति नहीं। मैं उनसे कह देता—महाशय, इसमें सूर्य तक की गति नहीं, तो चोर की कहां? चोर बेचारे तो वड़े उपकारी होते हैं। वे अपनी जान पर खेलकर हमारे मकान को हवादार बना देते हैं। कोई कहते इस मकान में बन्दर नहीं आ सकते हैं। मैंने उत्तर दिया—महाशय मैं रावण का वंशधर नहीं जो उनसे डरूं। मेरी दशा तुलसीदासजी के शब्दों में उन लंका की यातुधानियों की सी नहीं थी जिनको बानर के चित्र से डर लगे। मैं तो डारविन का मानने वाला हूं, उनको अपने पूर्वजों का सा आदर करता—वह भी आजकल के आदमियों का सा नहीं। मैं तो पवन का भक्त हूं यदि उस भक्ति के नाते पवनसुत के अनुयायी मेरे घर पर कृपा करें, तो मुझे खेद नहीं।

मुझे चोर का भी भय नहीं था क्योंकि एक बार मैं स्वतंत्र भ्रमण और वायुसेवन की न्यौछावर सत्ताईस सौ रुपये अर्पण कर चुका हूं। जिस प्रकार प्लेग या हैजा होने के पश्चात् मनुष्य उन रोगों से निर्भय हो जाता है मैं अपने को चोर-प्रूफ समझने लगा था। इससे चोर-प्रूफ मकान की आवश्यकता न थी।

मकान तलाशते शाम हो गई। आखिर घरवालों का ख्याल था। मेरे कुछ इष्ट-मित्रों ने, जो मेरे साथ वे अपने-अपने घर ले जाने का आग्रह किया। मैंने सोचा कि तलाश कोलम्बस (Columbus) की सी यात्रा तो है नहीं। आज न सही, कल तो अवश्य सफलता देवी के दर्शन होंगे। अपना भारी असबाब एक मित्र के यहां भेज, हम लोग बम्बई के ताजमहल होटल के नाम से समानता रखने वाले चन्द्रमहल होटल में ठहर गए। अभी नौकरी की साहिबी का नशा नहीं उतरा था। सावन के अन्धे को हरा-हरा ही सूझता है। दूसरे रोज फिर उसी

धुन में होटल से निकले। फिर वही किस्सा! वैसे ही मकान और वैसी ही बातें।

शहर के बाहर मकान तलाशने की ठानी, तो वहां किसी कोठी का किराया अधिक था और जिसका अधिक नहीं था वह शहर से दूर निर्जन स्थान में थी जहां तक पहुंचने में तांगे का किराया देते-देते दिवाला निकल जाता। मैं तो स्वास्थ्य सुधार के विचार से और कुछ घटी हुई आय के कारण पैदल ही आता जाता। इससे चमड़ी तो नहीं पर दमड़ी अवश्य बच जाती और समय भी कट जाता किन्तु, मेरे चाकर देव क्यों पैदल आते-जाते? न तो उनका स्वास्थ्य ही खराब था और न उनकी पेंशन ही हो गई थी (मेरी हुई थी उनकी नहीं)। खैर, बाहर की कोठी का भी ठीक न पड़ा। किराये और खर्च का सवाल था। 'चाहिये अमी जग जुरे न छाछी' दूसरा दिन यों ही गया। जानवरों का डिब्बा आ जाने की सूचना मिली। अब मकान की समस्या और भी तीव्र हो गई। मैं तो होटल में ही रह जाता; किन्तु जानवर तो होटल में न रहते। बाहर की कोठी में जानवरों का सुभीता था तो संकुचित आय वाले आदमी का सुभीता न था और शहर में किराये का थोड़ा बहुत सुभीता था, तो जानवरों का नहीं।

होटल में ठहरने का मेरा गर्व चूर्ण हो गया था। अपने मित्र के यहां घरवालों को पहुंचा दिंया। मकान की खोज कोलम्बस की यात्रा से भी बढ़ी-चढ़ी ज्ञात होने लगी। मित्र ने जानवरों के ठहरने का एक पड़ोसी के अस्तबल में बन्दोबस्त कर दिया। स्टेशन पर जानवरों का स्वागत करने गया। वहां जानवरों की चुंगी का सवाल उठा। मुन्शी ने कहा 'फी जानवर आठ आना लगेगा। मैंने तर्कशास्त्र में पढ़ा था कि All men are animals (सब मनुष्य जानवर हैं।) मुझे शंका हुई कि क्या हम लोगों की चुंगी लेना स्टेशन मास्टर भूल गये? मैंने कहा—अच्छा शरहनामा दिखाइए। शरहनामे में पढ़कर सन्तोष हुआ कि आठ आना फी पूंछ महसूल लगेगा। ईश्वर को धन्यवाद दिया कि हमको पुच्छविषाण हीन बनाया।

रास्ते में एक कोठी देखी (जिसमें अब साहित्य-रत्न-भण्डार है) उसका ऊपर का खण्ड खाली था। मकान मालिक से पूछा कि इसमें गाय भैंस का सुभीता है या नहीं? उसने उत्तर दिया आपकी गाय-भैंस क्या कुर्सी-मेज पर बैठती हैं जो ऊपर रहेंगी। स्वार्थ औचित्य को भूल जाता है।

जानवरों को घर पहुंचाकर एक और कोठी देखी, उसमें किसी राज्य के ex-minister का साइनबोर्ड लगा हुआ था। मैं भी एक राज्य का निकला हुआ था। सुग्रीव और रामचन्द्र की सी मैत्री का हिसाब समझ कर (हम दोनों ही हृतराजदारा तो नहीं, परंतु हृतराज अवश्य थे।) बादरायण सम्बन्ध से उनके यहां गया कि शायद उसमें स्थान मिल जाय। उन्होंने कहा हम मकान छोड़ रहे हैं; पूरे मकान के लिए मन में बड़ी-बड़ी कल्पना कर रखी थी। खूब

मिलाई जोड़ी एक अन्धा एक कोढ़ी। एक और साइनबोर्ड लगता ex-minister और एक और लगता ex-secretary, पूरा वानिक बन जाता। यह संगठन ईश्वर को मंजूर न था। होटल में किराये का वोझ था, तो मित्र के घर एहसान का बोझ। सांप छछूंदर की सी गति हो गई। दोनों में से एक भी वोझ हल्का न था। मैं एकान्त में वैठकर ईश्वर से प्रार्थना करने लगा—"अव मैं नाच्यो वहुत गोपाल"।

ईश्वर-प्रार्थना के अतिरिक्त नाना प्रकार मंसूवे बांधा करता था। मैं सोचता कि किसी अखबार में विज्ञापन निकाल दूं कि जो मुझे खातिरख्वाह मकान तलाश दे, उसे मैं 10000) इनाम दूंगा। विज्ञापन ही का खर्च था। 10000) के नाम उतने पैसे भी न थे; लेकिन यह संतोष था कि मकान के खातिरख्वाह होने का निश्चय करना तो मेरे हाथ में है, इस लोभ में वेकार लोग मेरे लिये सगर के पुत्रों की भांति शहर भर को खोज डालेंगे, लेकिन विना कुछ दिये, किसी के परिश्रम से लाभ उठाना मेरे सिद्धांतों के विरुद्ध था। देने को मेरे पास घर के किवाड़ भी न थे। हां, एक चीज अवश्य थी, जो देने से घटती नहीं। नागरी प्रचारिणी के विद्यालय में अनाहारी रूप से विद्या-दान करने लगा। कुछ विद्यार्थियों ने गुरु दक्षिणा के रूप में मेरी खोज अपने हाथ में ली। विद्यार्थियों ने वानर-राज सुग्रीव की अपेक्षा अधिक मित्रता दिखाई। मुझे उनको धमकी देने की या भय दिखाने की आवश्यकता न पड़ी। उन्होंने खोज कर स्टेशन के पास का मकान वताया। मैंने उस मकान को भीतर से न देखा था। उसके बारे में मेरा निर्णय युक्तिआश्रित (A Priori) था, अनुभवाश्रित नहीं था। उन्होंने मुझे निरीक्षण का परामर्श दिया। सच्ची बात को वालक से भी ग्रहण करना चाहिए। मैंने जाकर मकान देखा, वह नया था। उसमें नल देव का अभाव था; लेकिन भगीरथ रूप मेरे चर देवों ने मुझे आश्वासन दिलाया कि उनके रहते मुझ को जल का कष्ट न होगा। मकान की स्वच्छता के आगे सब कठिनाई विलीन हो गई। केवल मेरे अभिमान को आघात पहुंच रहा था, कि 'खेंच मोची के मोची' वाली लोकोक्ति चरितार्थ हो रही है। पहले यदि उस मकान को देख लेता तो इतनी परेशानी से बच जाता। शायद पहले रोज देखने पर पसन्द भी न आता। धक्के खाकर ही मनुष्य की अकल ठिकाने आती है। मुझे धक्के लगे सो लगे, संसार के ज्ञानभण्डार में वृद्धि हो गई। ईश्वर की खोज के लिये एक उपमा और वढ़ गई। ईश्वर अपने पास होता हुआ भी लोग उसको दूर-दूर खोजा करते हैं। वावा कवीरदास ने यह बात पहले ही कह दी थी 'मुझको क्या ढूंढ़े वन्दे मैं तो तेरे पास में।' अस्तु, मेरी खोज का अन्त निकट दिखाई पड़ने लगा लेकिन अभी थोड़ी गृह-दशा शेष थी।

मकान की खोज हो गई। पर मालिक मकान का पता न था, उनकी खोज का भार अपने सिर ले लिया; आखिर वे मिले और मेरे भाई तथा मेरी धर्मपत्नी के भाई के मित्र

निकले। ठेकेदार होने के नाते उन दोनों का वादरायण सम्बन्ध था। उन्होंने कहा कि आपने फौरन ही क्यों न खबर की? मैंने कहा—न आप ही सर्वज्ञ थे न मैं ही। सुदामा को भी पूछते-पूछते श्रीकृष्ण के दरवाजे तक जाना पड़ा था। उनसे किराये की बातचीत न करके उनका बताया हुआ किराया, आज्ञा गुरुणामिव शिरोधार्य किया। मकान की चाबी ले, इतना प्रसन्न हुआ मानों स्वर्ग की चाबी मिल गई हो। मैंने चाबी श्रीमतीजी को अर्पण की। जिस प्रकार धनुष तोड़ने से श्री रामचन्द्रजी को जानकी के साथ जयकीर्ति और न जाने क्या मिला उसी प्रकार उस चाबी के अहसान से मुक्ति, कर्मण्यता का सार्टीफिकेट, पैरों के लिए विश्राम, लामकां होने के गौरव से छुटकारा और न जाने क्या-क्या मिला। अब मैं उस मकान में सुख से रहता हूं। रेल के आवागमन से घड़ी के अभाव की पूर्ति हो गई, सब यात्राएं सुलभ हो गईं। दीनदयाल के कान में भनक पड़ गई, किन्तु देर में। खैर, देर आयद दुरुस्त आयद।

*****

मेरा मकान—1

मेरी मूर्खता की साकार मूर्ति

मुगल-सम्राट शाहजहां जव कैद में थे, तव उनसे पूछा गया कि आप क्या काम करना चाहेंगे? उत्तर दिया—लड़कों को पढ़ाना। इसके प्रत्युत्तर में उनके सआदतमन्द पुत्र शाहंशाह औरंगजेव ने फरमाया कि अब्बाजान, आपके दिमाग से बादशाहत की वू अभी नहीं गई है।

छतरपुर-राज्य से लौटने पर मैंने भी जैन-बोर्डिंग-हाउस, आगरे की अनाहारी या अनारी (Honorary) आश्रमाध्यक्षता (वार्डन-शिप) स्वीकार की। लोग कहेंगे, मेरे दिमाग से भी राज्य की वू नहीं गई थी, ठीक है। प्रोफेसरी में तो निजी सम्वन्ध का प्रायः अभाव होने के कारण अधिकार की मात्रा कम रहती है, वार्डनशिप में घनिष्ठतर सम्बन्ध होने के कारण यह कुछ अधिक हो जाती है। किन्तु मेरे मन में शासन का अभाव ही शासन की श्रेष्ठता थी। (That Government is best which governs least) दुर्भाग्य-वश मेरे सिद्धांतों के लिए जैन-बोर्डिंग-हाउस का वातवरण उपयुक्त न था। विद्यार्थियों में प्रीति का भय बहुत कम था और भय की प्रीति भी अधिक न थी। अधिकारी भी 'भय बिन होइ न प्रीति' के पूर्ण अनुयायी और दण्ड विधान के घोर समर्थक थे। वे मेरी अपेक्षा कुछ आदर्शवादी भी अधिक थे। बीसवीं शताव्दी की अंग्रेजी सभ्यता में पालित-पोषित बाबू लोगों से निशाचरी वृत्ति (रात में चरने या खाने की वृत्ति) छुड़ाना चाहते थे। मैं चाहता था कि राम-राज्य की भांति 'दण्ड जतिन कर' ही रह जाय, अर्थात् दण्ड सजा के रूप से उड़ जाय और दण्ड (डण्डा) केवल संन्यासियों के हाथ में ही रहे, किन्तु राम-राज्य कलियुग में कहां?

मैं यह अवश्य कहूंगा कि सब विद्यार्थी दण्ड के अधिकारी न थे। दण्ड के अधिकारी लोगों ने भी मेरे साथ कभी उद्दण्डता का व्यवहार नहीं किया। मेरे प्रति उनका सौजन्य-भाव ही रहा। उनमें इतनी शिक्षा न थी कि वे यह समझें कि बन्धन में ही मुक्ति है, आत्म-संयम में ही आत्म-सम्मान है। अधिकारियों का भी मेरे प्रति सौजन्य ही रहा, इसलिए मतभेद होते हुए भी, कोई वैमनस्य नहीं हुआ।

मैं यह समझता था कि स्वर्ग से भी पुण्य क्षीण होने पर लोग मृत्यु लोक में भेज दिये जाते हैं, फिर राज्य और अधिकार के लिए भाग्य का वहुत दिन आश्रय लेना बुद्धिमानी का काम नहीं था। सम्राट एडवर्ड अष्टम को ऐसे राज्य को छोड़ने में, जिस पर कभी सूर्यास्त नहीं होता; एक मुहूर्त की भी दूर न हुई, तो मुझे अपने छोटे से राज्य छोड़ने में देर लगाना स्वार्थपरायणता की पराकाष्ठा प्रतीत हुई। मैंने त्याग-पत्र भेज दिया। त्याग-पत्र सखेद स्वीकार हो गया। इतने में ग्रीष्मावकाश आ गया, मुझे पेन्शन-स्वरूप अधिकारियों के सौजन्य-वश बोर्डिंग हाउस के क्वार्टरों में दो मास और ठहरने की बिना मांगे आज्ञा मिल गई।

आज्ञा तो मिली, किन्तु मुझे नीति-वाक्य याद आया कि 'स्थान भ्रष्टा न शोभन्ते केशाः दन्ताः नखाः नरा :।' इसलिए मैंने भविष्य के वारे में विचार किया। किराये के मकान मिल सकते थे। थोड़े किराये के मकान पसन्द नहीं आते और अच्छे मकानों का किराया इतना अधिक था कि इसके प्रतिमास अदा करने में मेरे पैर सौर से बाहर निकल जाते। भूखों नहीं तो जाड़ों अवश्य मर जाता।

जलेसर में मेरा पैतृक घर है, किन्तु वहां न तो वच्चों की शिक्षा का प्रवन्ध और न मेरे स्वाध्याय का सुभीता था। वहां चुंगी की चर्चा और निरीह जर्जरितकाय किसानों को आतंक-भार से दबाने और मरों को मारने की शेखी बघारने वाले शाह-मदारों, सत्ताधिकारी जमींदारों तथा अनारी मजिस्ट्रेटों की गर्वोक्तियां सुनने के सिवा क्या रक्खा था? यद्यपि मैं क्षीण तेज था तथापि मुझ में दूसरों का प्रताप न सहने वाला सहज तेजस्वियों का स्वभाव वना हुआ था, फिर जलेसर में मेरी कहां गुजर?

आगरा में विद्यार्थी जीवन व्यतीत करने के कारण उससे विशेष मोह हो गया है। उसको छोड़ने की इच्छा नहीं होती। लोमश ऋषि को आदर्श मानकर मकान बनाने के, सिद्धांत रूप से मैं खिलाफ हूं। लोमश ऋषि की इतनी आयु है कि जब ब्रह्मा का एक वर्ष होता है, तव वे अपने शरीर का एक वाल नोच कर फेंकते हैं और इस प्रकार जब उनके सारे शरीर के वाल निकल जायेंगे, तव उनकी मृत्यु होगी। वे भी अनित्यता के भय से मकान नहीं वनाते, और अपनी झोंपड़ी को आज तक सिर लिये फिरते हैं।

मेरे आर्थिक सलाहकार भी मकान बनाने में सहमत न थे। किन्तु चिड़ियां अपने नीड़ में विश्राम लेती हैं, सांप के भी वांबी होती है, भेड़िया अपनी मांद में रहता है, चूहे भी अपने लिए विल खोद लेते हैं तो मेरे शरीर को आतप और मेघ से सुरक्षित रखने के लिए एक टूटा-फूटा मकान भी न हो! आत्मभाव जाग उठा,'धिग् पौरुषं, धिगैश्वर्यम्।' मैं सोचने लगा—दीन सुदामा के पास भी शायद एक झोंपड़ी थो। यदि किराये की झोंपड़ी होती, तो कृष्ण भगवान उसके स्थान में सोने के महल न वनवाते क्योंकि मालिक मकान उन्हें अपने

बतलाने लगता। किराये के मकान के सम्बन्ध में कॉलरिज (Coleridge) आदि अंग्रेजी के सुकवियों की करुण कथाएं पढ़ी थीं। सुना जाता है वे एक बार बड़ी सुन्दर कविता लिख रहे थे, जिसे उन्होंने स्वप्न में रचा था। वह संसार की सर्वोत्तम कविताओं में से एक होती, किन्तु वे कुछ ही पंक्तियां लिख पाये थे कि मकान वाले ने आकर घोर तकाजा किया और कवि महोदय की जिह्वाग्र सरस्वती हंसारूढ़ हो ब्रह्मलोक चली गई। संसार एक सुन्दर कविता से वंचित रह गया। यह कथा पढ़ने के पश्चात् मुझे किराये के मकानों से चिढ़-सी हो गई है। मुफ्त के मकान अब भाग्य में कहां? जेल जाने की शरीर में सामर्थ्य नहीं। अब बस अपना ही मकान बनाने का कठोर संकल्प किया। अच्छा है, मकान बनेगा, तो कुछ शगल ही मिल जायेगा। पढ़ने से ऊबे हुए मन को कुछ व्यसन न होना मुझे अखरता भी था। इस सम्बन्ध में मैंने एक सवैया भी लिखा है–

तास छुए नहिं हाथन सों, सतरंजहु में नहिं बुद्धि लगाई।
टेनिस गेम सुहाय नहीं, फुटबॉलहु पै नहिं लात जमाई।।
केरम-मर्म न जान्यहु, पेखत क्रिकेट-कंदुक देत दुहाई।
जीवन को सुख पायु न रंचक, लेखन में निज वैस गमाई।।

जब मैं किसी बात का संकल्प कर लेता हूं,तो उसकी पूर्ति के लिए अन्धप्राय हो जाता हूं। आवेश-वश आगा-पीछा नहीं देखता। कल्पना के कल्पतरु के नीचे बैठ नये मकान के स्वर्णमय स्वप्न देखने लगा। मैं सोचता था, थोड़ा-सा ही द्रव्य लगा कर एक छोटा-सा मकान बना कर उन्मुक्त वातावरण में रहूंगा। मकान के लिए जमीन तलाशने लगा। जहां मैं जमीन चाहता वहां की एक-एक इंच जमीन बिक चुकी थी। बिकी हुई जमीन में से बहुत अच्छी जमीन कुछ अधिक दामों मे मिलती थी। किन्तु जिस प्रकार सिंह दूसरे का मारा हुआ शिकार नहीं खाता, उसी प्रकार मैं दूसरे की खरीदी हुई जमीन में से एक भाग खरीदना पसन्द नहीं करता था। उसके गुण भी मुझे अवगुण प्रतीत होने लगे। एक गढ़ा अछूता था। प्रेमान्ध की भांति उसके प्रत्यक्ष दोष भी मैं न देख सका। जमींदार महोदय ने मेरे सिर पर ऐसी उल्लू की लकड़ी फेरी कि मैं छः महीने के लिए नहीं, तो छः दिन के लिए अवश्य अन्धा हो गया। मैंने उस जमीन के कुछ दोष बतलाये किन्तु उन्होंने कहा–बस, दो-ढाई सौ रुपए में गढ़ा भर जायेगा, और जमीन एक रुपए गज से दो रुपए गज की हो जायेगी। मालूम नहीं, पंडित बसन्तलालजी ने आदमी से गधा बनाने की विद्या, बिना बंगाल गये ही, कहां से सीख ली थी। कहने के ढंग में जादू होता है। सत्तू के मुकाबले धान अच्छे बतलाये जा सकते हैं–सत्तू; मन ....भ.....त्तू.....; जब घो....रे; तब खा....ये; तब च.... ले। धान विचारे भले, कूटे खाये चले।

दो सौ रुपये में गढ़ा भर जाने की बात में आ गया, और बात की बात में बयनामा करा लिया। बयनामा के समय कचहरी का सच्चा अर्थ मालूम हो गया—"कचं केशं हरतीति कचहरी।" जो कुछ जोड़ बतोड़, काढ़-मूसकर रुपये ले गया था सब उठ गये। हिन्दी का पक्षपाती होता हुआ भी उर्दू की लिखाई के लिए रुपये खर्च किए (उसके पश्चात् दो-तीन कागज लिखवाने का अवसर पड़ा तो वे हिन्दी में ही लिखाये।) हक के भव्य नाम से पुकारी जाने वाली रिश्वत भी दी। रास्ते में लखनऊ की लैला की अंगुलियों और मजनू की पसलियों की-सी तो नहीं किन्तु बिहारी की नायिका की भांति 'खरी पातरीहू लगति भरी सी देह' जैसी हरी-भरी पूर्ण स्वस्थ ककड़ियां बिक रही थीं। एक पैसा भी पास न बचा था। मन ललचाता ही रहा, रसना का संयम करना पड़ा, पैदल घर लौटा। मई के महीने मुंह पर चपेट मारने वाली लू का तो कहना ही क्या था? स्वर्ग के स्वप्न को थोड़े में वास्तविक रूप देना उसके लिए कुछ कठिन न था। पूर्वजों के पुण्य-प्रताप और आप लोगों के आशीर्वाद से सकुशल घर लौट आया। "जान बची लाखों पाये।" इतना सन्तोष अवश्य हुआ कि सवा रुपये साल का मालगुजार जमींदार बन गया (अब जमींदारी भी नहीं रही)। मालूम नहीं, अब मैं कर्ज के कानून का लाभ उठा सकूंगा या नहीं?

जमीन मिलते ही कारीगर और ठेकेदार उसी भांति मंड़राने लगे, जिस प्रकार मुर्दे को देखकर गिद्ध मंड़राते हैं। मुझे भी अपनी महत्ता का भान होने लगा। जब से रियासत छोड़ी थी, लोग मेरे पीछे नहीं चलते थे और इक्के तांगे वालों के सिवा कोई मुझ से 'हुजूर' नहीं कहता था, एकदम हुजूर, साहब और गरीब-परवर, अन्नदाता सब कुछ बन गया।

विघ्नों का भय सामने था, किन्तु मुझे महात्मा भर्तृहरि के वाक्य याद आये कि नीच लोग विघ्न के भय से कार्य प्रारम्भ नहीं करते 'प्रारंभ्यते न विघ्नभयेन नीचैः'। अच्छे आदमी तो विघ्न आने पर भी अपने उद्देश्य से नहीं टलते। मैं अपने को अच्छा सिद्ध करना चाहता था, और आंख बन्द कर गढ़े में मकान बनाने के कार्यरूप गढ़े में क्या अन्धकूप में कूद पड़ा। नक्शा बना, उसमें पैसे के सुभीते के अतिरिक्त सभी सुभीते देखे गये। लाख विश्वास दिलाने पर (केवल गंगाजली नहीं उठाई) ठेकेदार को विश्वास न हुआ कि मैं गरीब आदमी हूं। दिल्ली-दरवाजे मकान बनाने वाले सभी लोग सम्पन्न गिने जाते हैं, किन्तु ठेकेदार यह भूल जाता है कि काबुल में भी गधे होते हैं।

बुद्धिमान पुरुष का यह कर्त्तव्य होता है कि पहले व्यय का अनुमान कराकर कार्य आरम्भ करें। मैं अनुमान इस भय से नहीं कराता था कि शायद भारी रकम देखकर कार्यारम्भ ही न कर सकूं, और कहीं मेरा सोने का घर मिट्टी में न मिल जाये। विना आगा-पीछा देखे, विघ्नेश का नाम लेकर, नींव खुदना शुरू हुई। नींव के लिए मैं समझता था, गढ़े में होने

के कारण कम खुदाई की आवश्यकता होगी। जिधर गढ़ा नहीं था, उधर थोड़ी ही दूर पर पक्की जमीन निकल आई और गढ़े की ओर जितना खोदा जाता, उतना ही पक्की जमीन दूर होती जाती। नींव जैसे-जैसे नीचे जाती, वैसे-वैसे ही मेरा दिल भी गढ़े में वैठता जाता। पृथ्वी पर जो कुदाली चलती, वह मानो मेरी छाती पर ही चलती। लोग पूछते क्या 'प्रोग्रेस' अर्थात् उन्नति हो रही है, मैं कहता भाई, प्रोग्रेस नहीं, रिग्रेस (अवनति) हो रही है। नींव जितनी गहरी जाती उतनी ही मेरी आशा का क्षितिज दूर हटता। मैं सोचता—कहीं पुराने जमाने की वात न हो जाय की नींव तव भरी जाती थी, जव पानी चूने लगे। खैर राम-राम कर सात फीट पर पक्की जमीन के दर्शन हुए। उतनी ही प्रसन्नता हुई, जितनी जहाज के यात्री को समुद्र का किनारा देखने पर हो। कुछ किफायतशारी करने की वात चलाई। सभी ने मुक्तकण्ठ से बड़ी बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन करते हुए, तहखाने का परामर्श दिया, मानो तहखाना कोई ऐसा छू-मन्तर था, जिससे मेरी कठिनाइयों का अन्त हो जायेगा।

तहखाना बनना शुरू हुआ, और ईंट-चूने का स्वाहा होने लगा। जनमेजय के नागयज्ञ की भांति शाम तक एक-एक ईंट का हवन हो जाता। जव काम जोरों से चला तो यदि ईंट हो तो चूना नहीं, और चूना हो तो ईंट नहीं 'शाकाय वा लवणाय वा' की वात हो गई। दाल हो तो रोटी नहीं, रोटी हो तो दाल नहीं।

मकान गड्ढे में होने के कारण ठेकेदार को दीवारों को खूब विस्तृत करने का अवसर मिल गया। जितना दीवारों का आकार वढ़ता, उतना ही सुरसा के मुख की भांति उसके बिल का विस्तार वढ़ता। मैं यह कहते-कहते थक गया कि भाई, मैं घर वना रहा हूं किला नहीं; किन्तु वह यह कहते-कहते न थका कि हुजूर दरिया में मकान बना रहे हैं, मुझे कुछ नहीं, आप ही को पछताना पड़ेगा।

मेरे मित्रों और सलाहकारों ने भी ठेकेदार का ही पक्ष लिया और मुझे ऐसा भय दिखाया कि मानो प्रलय-प्रयोधि उमड़ कर इस छोटे-से गड्ढे में भर जाने वाला है या हजरत नूह के तूफान का प्रतिरूप उस तलैया में तैयार होने की खबर मिली है। मुझे भी पंचों की राय के आगे सिर झुकाना पड़ा। "पंच कहें बिल्ली, तो विल्ली ही सही।" मैंने भी सोचा, "जव ओखली में सर दिया तो चोटों से क्या डरना?" चूने का विल लम्बा-चौड़ा आया। मेरे मित्र ने उसे देखकर कहा कि ठेकेदार और चूने वाले ने मिलकर अवश्य चूना लगाया।

लखनऊ-निवासी मेरे मित्र शिवकुमारजी ने आशीर्वाद दिया कि मुझे गड्ढे में गुप्त धन गड़ा मिल जायेगा। मैंने कहा कि गड़ा हुआ धन तो क्या मिलेगा, किन्तु मैं अपना कठिनता से संचित किया हुआ धन ईंटों के रूप पृथ्वी में गाड़ रहा हूं।

पुराने लोग धन जमीन में ही गाड़ते थे। सनातन-धर्म की रीति से मेरा रुपया वसुन्धरा बैंक में जमा होने लगा। मेरे एक मित्र ने मुझे घबराते हुए देखकर कहा, "अभी तो इब्तिदा-ए इश्क है, रोता है क्या आगे-आगे देखिए होता है क्या?" मैंने कहा, बस आगे यही होना है कि धन का स्वाहा कर संन्यास धारण कर लूं। पहले लोग वर्णमाला का इस प्रकार अर्थ लगाते थे—'क' से कमाओ, 'ख' से खाओ, 'ग' से गाओ, प्रसन्न रहो, और सब के पीछे धन और शक्ति रहे, 'घ' से घर बनाओ। मैं आजकल 'घ' को सबसे पहला स्थान दे रहा हूं।

पक्की जमीन से दीवारें सात फीट ऊपर आ गई हैं। हाथी डुबान नहीं, तो मुझ ऐसे शर्मदार, पस्तकद और पस्तहिम्मत मनुष्य-डुबान तो नींव गहरी हो गई है। अशरफुलमखलूकात हाथी से किस बात में कम हूं? फिर भी अभी 'दिल्ली दूरस्त' की भांति प्लिन्थ दूर है। शायद दिल्ली-दरवाजे मकान बनाने का प्रभाव हो। जिस बात को मैंने दिल बहलाव की चीज समझा था, वह अब बवाल-ए-जान बन गई है। चन्दन घिसना ही दूसरा दर्द-सर हो गया है। लोग कहते हैं, "देर आयद दुरुस्त आयद।" जली तो जली, पर सिकी अच्छी। अब तकलीफ उठाते हो, तो पीछे से आराम मिलेगा? भाई साहब! मुझे तो नौ नकद चाहिए तेरह उधार नहीं! 'वरमद्यः कपोतः श्वौ मयूरात्' आज का कबूतर कल के मोर से अच्छा। अभी तो गढ़े की जमीन में इतनी भी गुंजाइश नहीं कि एक छप्पर डालकर दुपहरी में (रात में नही) वहीं सो जाया करूं। रुपया खर्च करने पर इतना ही सन्तोष मिला है कि एक दिन की वर्षा से गड्ढे भरे जाने के कारण वेद-ध्वनि से समता रखने वाली दादुर-ध्वनि चारों ओर से सुनाई पड़ती है, और बाबा तुलसीदासजी की निम्नोल्लिखित चौपाई याद आ जाती है—

'दादुर-धुनि चहुं ओर सुहाई,
वेद पढ़हिं जिमि बटु समुदाई।'

पहले जमाने में वेद-पाठ सुनने के लिए राजा-महाराजा लोग हजारों रुपये खर्च कर देते थे। इस कलयुग में वेद ध्वनि की उपमान रूपा दादुर ध्वनि सुनने के लिए पांच-सात हजार खर्च हो जाये तो कौन बुराई है? दूसरा सन्तोष यह है कि मैं स्वयं ठग गया, दूसरे को नहीं ठगा। कबीरदासजी की भी यही शिक्षा है—

'कबिरा' आप ठगाइए, और न ठगिए कोय।
आप ठगे सुख होत है, और ठगे दुख होय।।

रोज प्रातःकाल ईंटों के तकाजे के लिये भट्टे पर जाना पड़ता है। साम-दाम-दण्ड-भेद सब उपाय करने पर दो हजार ईंटें पहुंच पाती हैं, जिसे हमारे विश्वकर्मा के अवतार मिस्टर भोंदाराम कॉन्ट्रक्टरजी 'ऊंट के मुंह में जीरे' से भी कम बतलाते हैं। मेरी चरम साधना के

फल को इस प्रकार तिरस्कृत होते देखकर सात्त्विक रोष आ जाता है। मैं चाहता हूं कि इन सब झंझटों से कहीं दूर भाग जाऊं। शगल बहुत हो लिया उनसे आरी आ गया। किन्तु अब दूर भी नहीं भागा जाता। सांप छछूंदर की-सी गति हो रही है। मेरा उस साधु का सा हाल हुआ जिसने कम्बल के धोखे तैरते रीछ को पकड़ लिया था। फिर वह उस कम्बल को छोड़ना चाहता था लेकिन कम्बल उसे नहीं छोड़ता था। कहां प्रातःकाल का ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्य-रसास्वादन और कहां ईंट के भट्टों की हाजिरी? कहां वेदान्तवार्ता और कहां भुस का भाव? किन्तु अब क्या किया जाय?

"माया बस जीव गुसाईं,
वंध्यौ कीर-मरकट की नाईं।"

वस , मायाधीश भगवान ही इस मायाजाल से मुक्त करें तो मुक्त हो सकता हूं, नहीं तो कोई छुटकारा नहीं त्राहि माम्! त्राहि माम्!! त्राहि माम्!!!

*****

हानि-लाभ का लेखा-जोखा

मेरा मकान–2

मुसलमानों के यहां मुसव्विरी करना गुनाह समझा जाता है, क्योंकि चित्रकार एक प्रकार से खुदा की बराबरी करने की स्पर्द्धा करता है। शायद इसीलिए अल्ला-ताला लेखकों से भी नाराज रहते हैं क्योंकि वे भी अपने रचनात्मक कार्य द्वारा परमात्मा की होड़ करते हैं। कवियों ने अपनी रचना को एकदम परमात्मा की सृष्टि से भी बढ़ा हुआ बतला दिया है। काव्यप्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य ने कहा है कि कवि की भारती विधि की सृष्टि से परे और शुद्ध आह्लाद से बनी हुई है।[1] भगवान् की सृष्टि में शुद्ध आह्लाद बिजली के प्रकाश में भी खोजने पर बड़ी मुश्किल से मिलता है किन्तु लेखक अपनी कल्पना की उड़ान में उसे सफल बना देते हैं। फिर परमात्मा लेखकों से क्यों न रूठे? यदि लेखक लोग शब्दों के महल और हवाई किलों के अलावा ईंट-चूने के मकान बनाने का भी साहस करें तो नीम चढ़े करेले की बात हो जाय। ईश्वर मनुष्य की इस डबल स्पर्द्धा को कहां सहन कर सकते।

मेरे साथ भी कुछ ऐसा हुआ। ठोक-पीटकर लोगों ने मुझे लेखकराज बना ही दिया और मैं स्वयं भी अपने को पांचवे सवारों में गिनने लग गया। अपने को बड़ा आदमी समझने के कारण ही छतरपुर से नौकरी छोड़ने के पश्चात् दूसरी जगह की नौकरी न निभा सका।

नौकरी करना तो टेढ़ी खीर है। उसमें बड़े आत्म-संयम की जरूरत है, किन्तु मैं तो जैन-बोर्डिंग-हाउस के लड़कों को कायदे के घेरे में बन्द रखने का बाइज्जत काम का भार न संभाल सका। अब यदि इतने पर भी संतुष्ट रहता तो गनीमत थी—बाप दादों की नहीं, अपनी ही भलमनसाहत लिए बैठा रहता तब तक विशेष हानि नहीं थी।

दूसरे प्रोफेसरों को कोठियों में रहते देख (मैं भी प्रोफेसरों में करीब-करीब बेमुल्क का नवाब हूं) मुझे भी कोठी बनाने का शौक चर्राया। मेरे सामने दो आदर्श थे। श्री भोंदारामजी ठेकेदार तो चाहते थे कि अकबर की इस नगरी में कम से कम लाल पत्थर के किले की

---

1. ईशर खुद तो लामकाँ ठहरा उसका वन्दा क्यों बामकाँ बने?

टक्कर का एक दूसरा किला बनवाऊं और मेरी इच्छा थी कि अपने पड़ोस के काछियों के अनुकरण में एक झोंपड़ी डाल लूं। इन्हीं परस्पर विरोधिनी इच्छाओं के फलस्वरूप मेरा मकान तैयार हो गया जो अभी सामने से एक मंजिल है और पीछे दुमंजिला है।

मैं चाहता तो झोंपड़ी ही बनाता, परंतु जिस प्रकार पूर्वजन्म के संस्कारों पर विजय पाना कठिन हो जाता है उसी प्रकार नींव की दीवारें चौड़ी चिनकर उन पर झोंपड़ी बनाना असम्भव हो गया। प्रत्यक्ष रूप से मूर्ख कहे जाने का भार अपने ऊपर लेने को तैयार न था। जब लोग इतनी बड़ी ब्रिटिश सरकार को 'टॉपहेवी' कहने में नहीं चूकते, तो मेरे मकान की 'बॉटमहेवी' कहने से किसका मुंह बंद किया जाता। 'टॉपहेवी' के लिए तो एक बहाना भी है—'सिर बड़ा सरदार का' मेरे पास ऐसा कोई बहाना भी न था। मैं शहर में रहकर गंवार नहीं बनना चाहता था। मकान फूस से क्या लकड़ी से भी न पटा। उसमें लोहे के गार्डर पड़े और ठाटें लगाई गईं उस सम्बन्ध में मेरे छोटे भाई बाबू रामचन्द्र गुप्त तथा मेरी श्रीमतीजी के बड़े भाई लाला कालीचरणजी ने ठेकेदार महोदय को कई बार डाट-फटकार बताने का मौका पाया।

अब मैं डाट का अर्थ समझ गया-डाट ईंट-चूने की उस बनावट को कहते हैं जो सदा अपना भार लिए धूप और मेंह के साथ रण में डटी रहती है, किन्तु उसे डटी रहने के लिए स्वयं धूप और मेंह की पर्वाह न करके डटा रहना पड़ता है और समय-समय पर ठेकेदार को भी डाट देनी पड़ती है। इस प्रकार मेरा शब्द-कोष (अर्थ-कोष नहीं) बहुत बढ़ गया है, अब मैं कुछ डाढ़ा, चीरा, हॉफ-सेट, होल-पास, नासिक, चश्मा, ठेबी महादेवा, आदि वास्तुकला के पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझने लगा हूं और कुछ की व्युत्पत्ति भी बता सकता हूं जैसे, 'होल-पास' अंग्रेजी Hold Fast से बना है, हॉफ सेट का Off set का महापुराण Aspirated रूप है। एक बात और भी मालूम हो गई है। आजकल की सभ्यता की कांट-छांट का प्रभाव वास्तुकला पर भी पड़ा है। इस युग में मूछें कट-छंट कर तितली बनीं और फिर तितली बन कर उड़ गईं। कोट आधे हो गये। पेंट भी शौर्ट हो गईं। कमीज की बांहे ओर गले मुख्तसर बनने लगे। जूतों का स्थान चप्पल और सैण्डलों ने लिया। नाटक एकांकी ही रह गया। इसी प्रकार मकानों में चौखट न बनकर तिखट बनने लगी। आज-कल की चौखटों के नीचे बाजू नहीं होती। सूर के बालकृष्ण को देहली लांघने में जो कठिनाई हुई थी वह मेरे नाती-पोतों को नहीं होगी।.

अर्थकोष के क्षय के साथ शब्द-कोष की वृद्धि उचित न्याय है—'एवज मावजा गिला न दारद।' इधर का लेख़ उधर बराबर हो गया। और नहीं तो परिवृत्ति अलंकार का एक नया उदाहरण मिल गया। कुछ बेर देकर मोती लेना कहूं या उसका उल्टा।

जिस प्रकार शुरू में जनमेजय के नागयज्ञ की तरह ईंट-चूने का स्वाहा होता था उसी प्रकार पीछे धन का स्वाहा होने लगा, और मैं भी घर फूंक तमाशा देखने का अस्पृहणीय सुख अनुभव करने लगा। एक के बाद दूसरी पास बुक चुकती हुई, फिर कैश-सार्टिफिकेटों पर नौबत आई और पीछे रिजर्व बैंक के शेयर वारंट भी जो भाग्यशालियों को ही मिले थे, अछूते न रहे। वे विचारे भी काम आये। मैंने जिस बैंक या कम्पनी के शेयर लिये उसका देवाला निकला। अपने रिजर्व बैंक के शेयर बेचकर रिजर्व बैंक को देवालिया होने से वचा लिया। इस दया का क्या प्रत्युपकार मिलेगा मैं नहीं जानता था, या नेकी कर दरिया में डालने की ही बात रहेगी। मैं 'पुरुष-पुरातन की वधू' के मादक संसर्ग से मुक्त हो गया, अस्तु यह थोड़ा लाभ नही। कविवर बिहारीलाल ने कहा है।

"कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
या खाए बौराय नर, वा पाये बौराय।।

अब मुझे कनक (धन) मद न सता पायेगा, और मैं बौराया न कहाऊंगा। दार्शनिक के नाते यदि कोई मुझे पागल कह लेता, तो मैं इसे दार्शनिक होने का प्रमाण-पत्र मानकर प्रसन्न होता, किन्तु धन-मद से लांछित होना मैं पाप समझता हूं। कांग्रेसी मंत्रिमंडल पर अनन्त श्रद्धा रखता हुआ भी मैं यह कहने को तैयार हूं कि धन के मद से तो भंगभवानी और वारुणी देवी का मद ही श्रेयस्कर है। इसमें अपना ही अपमान होता है दूसरे का तो नहीं।

एक महाशय ने मेरे घर के तहखाने को देखकर कहा कि आपके घर में ठण्डक तो खूब रहती होगी? मैंने उत्तर दिया, जी हां। जव रुपये की गर्मी न रही तब ठण्डक रहना एक वैज्ञानिक सत्य ही है। इस पर उन्होंने तहखानों के सम्बन्ध में सेनापति का निम्नलिखित छन्द सुनाया।

"सेनापति ऊंचे दिनकर के चुवति लुवैं
नद, नदी कुँवै कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन, मुरझात उपवन बन,
लाग्यौ है तपन, डारयौ भूतलौं तपाइ कै।
भीषम तपत रितु, ग्रीषम सकुचि तातैं,
सीरक छिपी है तहखानन में जाइकै।
मानौं सीत कालैं, सीत-लता के जमाइबे कों,
राखे हैं विरंचि बीच धरा में धराइ के।।

मैंने कहा भाई साहव वस्तु हाथ से गई, फिर छाया भी न मिले, तो पूरा अत्याचार

ही ठहरा। पहले के लोगों के तहखाने धन से भरे रहते थे, अब छाया ही सही। यदि गेंहू नहीं तो भूसा ही गनीमत है।

धन का रोना अधिक न रोऊंगा। अब और लाभ सुनिये। बाहर मकान बनाने का सबसे बड़ा प्रलोभन यह होता है कि उसमें थोड़ी सी खेतीबारी करके अपने को वास्तव में शाकाहारी प्रमाणित किया जाय। मेरी खेती भी उन्हीं लोगों की सी है जिनके लिए कहा गया है—

"कर्महीन खेती करै, बैल मरे कि सूखा परै।"

जब घर बनाने के लिए दो रुपया रोज खर्च करके दूसरे के कुंए से पैर चलवाकर हौज भरवा लेता था तब तक ही खेती खूब हरी-भरी दिखलाई देती थी। माली महोदय भी "माले मुफ्त दिले बेरहम" की लोकोक्ति का अनुकरण करते हुए पानी की कंजूसी न करते थे। उन दिनों चांदी की सिंचाई होती थी; फिर भी शाक-पात के दर्शन क्यों न होते? पालक के शाक की क्यारी तो कामधेनु सिद्ध हुई। जितनी काटते, उतनी ही बढ़ती। वह वास्तविक अर्थ में पालक थी। गोभी के फूल भी खूब फूले। उन्हें अधिकार से खाया भी क्योंकि श्रीमद्भगवदगीता में फलों का ही निषेध किया गया है पत्तों और फूल का नहीं। भगवान ने कहा है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्!" भगवान ने अपने लिए फल का भी निषेध नहीं किया 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मा भक्त्या प्रयच्छति'। किन्तु जब मकान बन चुका तो अपने ही आप पानी देने की नौबत आई। अब तो श्रीमद्भगवद्गीता का वाक्य अक्षरशः सत्य होता दिखलाई देता है। दिन-रात की सिंचाई के बाद भी पत्र और पुष्प ही दिखलाई देते हैं। खेत सींचने में निष्काम कर्म का आनन्द मिलता है। मेरी खेती पर मालूम नहीं, अगस्त्यजी की छाया पड़ गई है कि जल से प्लावित क्यारियों में शाम तक पानी का लेश-मात्र भी नहीं रहने पाता। बाबा तुलसीदासजी का अनुकरण करते हुए कह सकता हूं—जैसे खल के हृदय में सन्तों का उपदेश। भगवान की तरह मैं भी कुंऐं पर खड़ा हुआ रीतों को भरा और भरों को रीता किया करता हूं। मालूम नहीं भगवान् इस स्पर्द्धा का क्या बदला देंगे? इतना सन्तोष अवश्य है कि मेरे कुंए का पानी मीठा निकला है। इसमें पूर्वजों का पुण्य-प्रताप ही कहूंगा। कुंए का जल ऐसा है कि कभी-कभी मुझे कसम खानी पड़ती है कि यह नल का नहीं है। "तातस्य कूपोऽयमितिब्रुवाणः क्षारंजलं कापुरुषः पिवन्तिः" बाप दादों का कुंआ है, ऐसा कह कर कायर लोग खारा पानी पीते हैं। सौभाग्य से मेरी सन्तान के लिए ऐसा न कहा जायेगा (लेकिन पानी अब वैसा मीठा नहीं रहा)।

मेरी खेती से सिर्फ इतना ही लाभ है कि मुझे पौधों की थोड़ी-बहुत पहचान हो गई है। मैं लोकी और काशीफल, टिंडे और करेले के पत्तों में विवेक कर सकता हूं। मैं देहली दरवाजे रहते हुए भी देहली के उन लोगों में से नहीं हूं जिन्होंने कभी अपनी उम्र में चने

का पेड़ नहीं देखा। बहुत कुछ जमा लगने पर मैं यह तो न कहूंगा कि कुछ न जमा। जमा सिर्फ इतना ही कि मेरे यहां की भूमि बन्ध्या होने के कलंक से बच गई। जिस प्रकार हजरत नूह की किश्ती में सब जानवरों का एक जोड़ा नमूने के तौर पर बच रहा उसी प्रकार मेरी खेती में विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए दो-दो नमूने हर एक चीज के मिल जायेंगे और बाबा तुलसीदास जी के शब्दों में यह न कहना पड़ेगा—

"ऊसर बरसे तृण नहिं जामा।
सन्त हृदय जस उपज न कामा।।"

जमीन को क्यों दोष दूं। मेरी खेती पर चिड़ियों की विशेष कृपा रहती है। वे मेरे बोए हुए बीज को जमीन में पड़ा नहीं देख सकतीं और मैं भी खेत चुग लिए जाने के पूर्व सचेत नहीं होता। फिर पछतावे से क्या?

मैं अपनी छोटी सी दुनिया में किसानों की अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभाः शुकाः सभी ईतियों का अनुभव कर लेता हूं। सोचा था—वर्षा के दिनों में खेती का राग अच्छा चलेगा किन्तु गढ़े में होने के कारण साधारण वृष्टि भी अतिवृष्टि का रूप धारण कर लेती है। दो रोज की वर्षा में ही जल-प्लावन हो गया। सृष्टि के आदिम दिनों का दृश्य याद आ गया। मुझे भी अभाव की चपल बालिका चिन्ता का सामना करनां पड़ा। पसीना बहाकर सींचे हुए वृक्ष, जिन्हें बड़ी मुश्किल से ग्रीष्म के घोर आतप से बचा पाया था, जल-समाधि लेकर विदा हो गये। जीवन (जल) ही उनके जीवन का घातक बना।

शहर से कुछ दूर होने के कारण मेरे नापित महोदय मेरे ऊपर अब कृपा नहीं करते। यद्यपि मेरे नापतिदेव धूर्त्त तो नहीं हैं तथापि नापित को शास्त्रों में धूर्त्त कहा है। 'नाराणां नापितो धूर्त्तः' इस प्रकार मेरा एक धूर्त्त से पीछा छूटा। जो तृतीय श्रेणी के न्यायी ब्राह्मण मेरे ऊपर कृपा करना चाहते हैं उन पर कृपा करने से मुझे संकोच होता है। अब मैं स्वयं-सेवक(स्वयं शेव करने वाला) बन गया हूं और देश के हित में टमाटर और पालक के विटामिन—बाहुल्य से बने अपने अमूल्य रक्त के दो-चार बिन्दु नित्य समर्पण करना सीख गया हूं। शायद सर कटाने की नौबत आये तो इतना संकोच नहीं होगा। सर के बजाय बाल तो दो-चार महीने में और नाखून दो-एक सप्ताह में कटवा ही लेता हूं। फिर भी लोग कहते हैं बलिदान का समय नहीं रहा।

मैं अपने मकान तक पहुंचने के रास्ते के सम्बन्ध में दो एक बात कहे बिना इस लेख को समाप्त नहीं कर सकता। उससे मुझे जो लाभ हुआ था। मैंने अपने जीवन में इस बात

की कोशिश की थी कि दूसरों को धोखा न दूं; इसलिए मुझे गालियां भी शायद ही मिली हों। लेकिन इस सड़क की बदौलत मुझे इक्के-तांगे वालों से रोज गालियां सुननी पड़ती हैं। पीठ फेरते ही वे कह उठते हैं। "बेईमान दिल्ली दरवाजे की कहकर गांव के दगड़े में खींच लाया है। मैं भी उनकी गालियों का विवाह की गालियों से समान आदर करता हूं, आगरे में इक्के-तागों की संख्या बहुत है इसलिए रोज नया लाने पर भी कठिनाई न होगी और चुंगी के विधायकों का स्मरण कर लेता हूं कि—कबहुंक दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान?" गांव की सड़के भी इसकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकती। वन जाते हुए श्रीरामचन्द्रजी के सम्बन्ध में तुलसीदासजी ने कहा है—"कठिन भूमि कोमल पदगामी।" मेरे लिए शायद उन्हें कहना पड़ता—"कोमल भूमि कठिन पदगामी।" पवित्र ब्रज रज तथा 'खाके बतन' से पूर्ण इस सड़क में जूते इस प्रकार से समा जाते हैं जैसे किसी साहब के ड्रांइग-रूम में सोफा सेट के कुशन में शहर के किसी मोटे रईस का सारा शरीर। यदि कहीं जूतों को धूलि धूसरित होने से बचाकर उनकी शान रखना चाहूं तो, दूसरों की कोठी में ट्रेसपास करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। किन्तु इसमें मेरी शान जाती है। दूसरी कोठियों के लोग वाणी से तो नहीं किन्तु कभी-कभी मधुर व्यंग्य द्वारा अवश्य विरोध करते हैं।[1]

रात्रि को जब घर लौटता हूं दो कबीर के बताये हुए ईश्वर मार्ग की कनक और कामिनी रूपिणी बाधाओं के समान 'सूद' और 'लाल' की कोठियां मिलती हैं। मेरी पदध्वनि सुनते ही उनके श्वान देव उन्मुक्त कण्ठ से मेरा स्वागत करते हैं। उनके लिए मुझे दण्डधारी होकर कभी-कभी उद्दण्ड होना पड़ता है। अब मुझे इन स्वामिभक्त पशुओं के नाम भी याद हो गये हैं। एक का नाम टाइगर है और दूसरे का कालू। नामोच्चारण करने से दण्ड का प्रयोग नहीं करना पड़ता। जब इन घाटियों को पार कर लेता हूं तभी जान में जान आती है।

हमारे घरों में ही बिजली का प्रकाश है किन्तु रास्ते में पूर्ण अन्धकार का साम्राज्य रहता है और मुझे उपनिषदों का वाक्य याद आ जाता है "असूर्या नासते लोका अन्धेन तमसा वृता" मालूम नहीं उसके लिए कौन सा पाप का उदय हो जाता है। "तमसो मा ज्योतिर्गमय"[2] की प्रार्थना करता हुआ जैसे-तैसे राम-राम करके घर पहुंचता हूं। रोज सवेरा होता है और

---

1. चुंगी की कृपा से अब कोलतार की सड़क बन गई है। उस काली सड़क ने मेरा और चुंगी का मुख उज्ज्वल कर दिया है किंतु वह कबीर की प्रेम गली की भांति अति साँकरी है 'जा में दो न समायँ'। और काल की गति से तथा कुछ पानी के आवामगन के लिए नलों के अर्थ खुदाई होने के कारण 'सिविल लाइंस' की सड़क गाँव के दगड़े से प्रतिस्पर्द्धा करने लगी। नालियों के निरंतर प्रवाह के कारण सदा पावस ऋतु ही बनी रहती है। मालूम नहीं इस दुःखद शोचनीय स्थिति का कब अंत होगा।
2. यह प्रार्थना स्वीकार हो गई है। अब सड़क पर बिजली के बल्ब लग गये हैं।

उन्हीं मुसीबतों का सामना करना पड़ता है।

इन सब आपत्तियों को सहकर भी बस इतना ही सन्तोष है कि उन्मुक्त वायु का सेवन कर सकता हूं और बगीचे के होते हुए मुझे यह समस्या नहीं रहती कि क्या करूं? जूतियां सीने से अधिक श्रेयस्कर काम मिल जाता है। शास्त्रकारों का कथन है—

'बेकार मुबाश कुछ किया कर,
गर कुछ न हो तो जूतियां सींया कर।'

और कुछ नहीं होता तो खुरपी लेकर क्यारियों को ही निराता रहता हूं, और चतुर किसानों में अपने को गिने जाने की स्पर्द्धा करता रहता हूं—'कृषी निरावहिं चतुर किसानू'। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने सन की गांठ के आधार पर बाबा तुलसीदासजी को किसनई का पेशे वाला प्रमाणित किया है। इस बात से मुझे एक बड़ा सन्तोष हो जाता है कि और किसी बात में न सही तो खेती के काम में ही भक्त शिरोमणि की समानता हो जाय।

अब मेरा यह निष्कर्ष है कि मुझ जैसे बेकार, संकल साधनहीन आदमी को—जिसके यहां न कोई सवारी-शिकारी और न दो चार नौकर-चाकर हैं (वैसे तो हमारे उपनिवेश के सभी लोग 'स्वयं दासास्तपस्विनः' वाले सिद्धांत के मानने वाले हैं)—कोठी बनाकर न रहना चाहिए।

*****

नर से नारायण

मेरा मकान पानी की बाढ़ में–3

'ताजा-ब-ताजा नौ-ब-नौ' गर्मागर्म प्रतिक्षण की टटकी खबर सुनने के अभ्यस्त नारद मुनि के अवतार स्वरूप समाचार पत्रों के समुत्सुक पाठकों को जब समुन्दर पार विलायत की भी एक छाक की पुरानी खबरें वासी और वेमजा लगती हैं तब उनको आगरे की कई महीने की पुरानी बात सुनाना उनकी सुरुचि का अपमान करना ही नहीं है वरन् उनको 'ब्लेक होल' की यातना देनी होगी। यह जानते हुए भी मैं आगरे में आई हुई सितम्बर 1939 की बाढ़ का हाल सन् 1941 में सुनाने का दुस्साहस कर रहा हूं। (यह लेख सन् 41 में लिखा था)

उस समय मैं स्वयं बाढ़-पीड़ित हो करुणा का पात्र बना हुआ था। मेरे होश ठिकाने न थे। कहता भी तो क्या कहता? कुंए में गिरा हुआ मनुष्य जब तक उससे बाहर न निकल आये तब तक अपने गिरने का हाल कैसे बताये? उन दिनों इतनी ही गनीमत रही कि ईश्वर की परम कृपा और पूर्वजों के पुण्य-प्रताप से सर के ऊपर की छत तो बची हुई थी लेकिन फर्श बैठ जाने से मेरे पैरों तले की जमीन खिसक गई थी। बिना त्याग और तपस्या के घर ही बन बन गया था। कमरों में खाइयां और पहाड़ दिखाई देने और कुछ दिन के लिए सरिता तो नहीं घर-सरोवर अवश्य बन गया था। मिट्टी के नुकीले टुकड़े जो भारत माता के लाड़ले सपूतों की भांति एक दूसरे से मुंह मोड़े पड़े थे, मेरे कोमल पदों में तो क्या कठोर पदों में भी आघात पहुंचाने के लिए पर्याप्त थे। उनको देख कर मुझे एक फ्रांसीसी रहस्यवादी महिला की जिसका नाम मैडम ग्वेन था याद आ जाती। उसके बारे में कहा जाता है कि वह अपने जूतों में इसलिए कंकड़ डाल लेती थी कि उसके शरीर को कष्ट पहुंचता रहे, वह विलासिता में न पड़े और ईश्वर की याद करती रहे। खुदाताला ने भी मुझे अपनी याद का सामान मुहैया कर दिया था। ऐसी अवस्था में कुछ लिखता पढ़ता कैसे?

वरुण महाराज की कृपा

बाढ़ की बात अभी तक न सुनाने का एक कारण और भी था। वह यह कि खबर को सरस कहानी का रूप देने के लिए कुछ समय की जरूरत होती है। पाल में रक्खे हुए आमों में रस आता है। समय का व्यवधान लौकिक अनुभव को अलौकिक बना देता है। कविवर वर्डस्वर्थ ने कहा है कि काव्य शान्ति के समय में स्मरण किये हुये प्रबल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है "Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollect in tranquility."

बाढ़ चली गई लेकिन उसका प्रभाव अभी तक यत्र-तत्र-सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। इसलिए बात नितान्त पुरानी भी नहीं हुई है। जग बीती न सुनाकर पहले आप बीती ही सुनाऊंगा। 'अब्वल खेश बादहू दरवेश।' खैर अब सुनिए।

सितम्बर के महीने में, पानी की त्राहि-त्राहि मची हुई थी। मैंने भी वैश्य-धर्म[1] पालने के लिये पास के एक खेत में चरी बो रक्खी थी। ज्वार की पत्तियां ऐंठ-ऐंठ कर बत्तियां बन गई थीं। मैं भी जीव-दया प्रचारिणी सभा का भूतपूर्व मेम्बर होने के नाते नौनिहाल किन्तु अब तन-मन मुर्झाये हुए नौं उम्र पौदों की बेकसी पर और अपनी गाढ़ी कमाई के बीस रुपयों की बरबादी पर दो-चार आंसू बहा देता। लेकिन उनसे होता क्या? यदि वे रीतिकालीन काव्यों की विरहिणी गोपिकाओं के समान भी होते जिससे कि समुद्र का पानी खारी हो गया था तो भी वे खारी होने के कारण सिंचाई का काम न देते। खैर फिर भी गरीब किसानों की सृष्टि को भस्म करने वाली आहों के बादल बनते दिखाई दिये, 'दिग्दाहों से धूम उठे या जलधर उठे क्षितिज तट के'। ऐसा मालूम होने लगा कि अब दीनदयाल के काम में भनक पड़ी और शायद यह न कहना पड़े 'का वर्षा जब कृषी सुखानी'। 'धूम-धुआँरे कारे-कजरारे' श्याम घनों को देख कर मेरा मन-मयूर नृत्य करने लगा। बादलों की उपयोगिता की अपेक्षा मैं उनके सौन्दर्य से अधिक प्रभावित होता हूं। बाहर घूमता फिरा, नन्हीं-नन्हीं बूंदों के सुखद शीतल स्पर्श से पुलकित हुआ। आनंद और कर्त्तव्य तथा श्रेय प्रेय का समन्वय करने कालेज भी गया। यद्यपि मेरी सदा छुट्टी सी रहती है तो भी वर्षा के कारण कालेज बन्द हो जाने से बालकपन के संस्कारोंवश प्रसन्नता का अनुभव किया। धुली-धुलाई सड़कों की स्निग्ध, चमकीली छटा तथा चारों ओर के नयनाभिराम छायावादी आर्द्र सौन्दर्य का आस्वादन करता हुआ हंसता खेलता, खेती की ओर हर्ष-पूर्ण दृष्टिपात करता हुआ उमंग भरे हृदय के साथ घर लौटा।

---

1. कृषि गोरक्ष वाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम्।—श्रीमद्भगवद्गीता

घर या तालाव

मेह के कारण शरीर में जो स्फूर्ति आई थी उससे प्रेरित हो लिखने बैठ गया। कभी-कभी वाहर जाकर मेघाच्छादित गगन-मण्डल की शोभा निरख लेता था। किन्तु मैं यह नहीं जानता था कि इस सौन्दर्य में इतना विष भरा है। कभी-कभी पीछे की ओर बगीचे में जाकर शेफ़ाली की उदार सुमन-वर्षा का तथा धोये-धोये पत्तों वाली हरित-ललित-यौवन भरी लहलहाती लौनी लताओं के सौन्दर्य-मधु को अपने सतृष्ण नेत्रों द्वारा पान कर लेता था।

पीछे की तरफ प्रायः एक फुट पानी भर गया। मेरी सौन्दर्योपासना अविचलित रही क्योंकि ऐसा कई वार हो चुका था। बच्चे भी घर की गंगाजी में कागज की नावें तैरा कर खुश हो रहे थे। मैं अपनी सूखी खेती के पुनर्जीवन प्राप्त करने के स्वप्न में मग्न था। सायंकाल तक सारा दृश्य रस के दोनों अर्थों में रसमय था। यह जलमय थ. और आनन्दमय भी। यद्यपि पानी के साथ थोड़ी-थोड़ी आशंका बढ़ रही थी तथापि मामला रस से विरस नहीं हुआ था।'सिमिट-सिमिट जल भरहिं तलावा।' जिस प्रकार सज्जन के पास सद्गुण आते हैं अथवा आजकल के युग में वेकारों की अर्जियों से दफ्तर बन जाते हैं वैसे ही चारों ओर के पानी से मेरे पास ही जमीन तालाब बनी हुई थी। घर में इस वात का प्रश्न अवश्य उठा था कि कहीं तालाव अपनी मर्यादा का उल्लंघन करके अपने विस्तार को मेरे घर तक न ले जाय; किन्तु वह शंका असम्भव मान कर टाल दी गई। उस समय कुछ किया भी नहीं जा सकता था। मेरे सेलरों के रोशनदान तीन फुट ऊंचाई पर थे। यह सब ऊहापोह हो ही रहा था कि पास की जमीन का पानी मर्यादा के वाहर होकर मेरी जमीन में आ गया। वह क्यों न आता? मेरे मकान में बाउण्ड्री वाल भी नहीं थी। मैं देश और राज्य की सीमाओं को जब क्षुद्र समझता था तव घर के चारों ओर क्यों सीमा बांधता? मैं तो अनन्त का उपासक ठहरा। मैं रवीन्द्र बाबू के साथ स्वर में स्वर मिला कर तो नहीं—(मेरा कण्ठ कर्कश है उनका कोमल था। मुझे तानसेन की कब्र की इमली की पत्तियां खाने पर भी गाना नहीं आया) परंतु उनके भाव से तादात्मय कर कहा करता था—"जेथा गृहेर प्राचीर आपन सोंगण तले दिवाशर्व्वरी। वसुधा के राखे नाई खण्ड क्षुद्र करि।' फिर मैं अपने मकान का दूसरों के मकान से पार्थक्य क्यों करता।

अन्धेन तमसावृता

थोड़ी ही देर में पानी रोशनदान के मुंह तक पहुंच गया और उनमें होकर जल प्रपात होने लगा। नाइग्रा फॉल मैंने देखा तो नहीं है किन्तु फिर भी कह सकता हूं कि वास्तविकता पर कल्पना का रंग चढ़ा लेने से उसी का-सा कुछ-कुछ दृश्य उपस्थित हो गया।

मैं अपने तहखाने पर गर्व किया करता था कि मैं उनके कारण सायंकाल को भी उनमें

बैठ कर लिख पढ़ सकता हूं। जो महाशय मेरा मकान देखने की कृपा करते उनसे मैं आर पार वायुसंचार की तारीफ बड़ी प्रसन्नता के साथ करता था क्योंकि उससे मुझे अपनी टूटी-फूटी शान और स्वास्थ्य-विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान के प्रदर्शन का मौका मिल जाता। क्रॉस वैन्टीलेशन की शान ही बबाले-जान बन गई। सौन्दर्य प्रिय होते हुए भी तहखानों के झरनों का पुष्ट मांसल सौन्दर्य का आस्वादन न कर सका। यदि घर फूंक तमाशा भी देखना चाहता तो नामुमकिन हो गया था। एक साथ बिजली ठप हो गई। घर फूंक तमाशा देखने वाले को कम से कम प्रकाश की तो जरूरत नहीं होती। यहां तो पूर्व-जन्म के पापों के उदय होने के कारण 'असूर्यानाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृता' का दृश्य उपस्थित हो गया। घनी कालिमा बिना स्तर-स्तर जमें ही पीन होने लगी। सूची भेद्य अन्धकार का साम्राज्य हो गया। हाथों हाथ नहीं सूझता था। बाइबिल के आदर्श दानी की भांति दायां हाथ बायें हाथ की बात नहीं जान सकता था। सर से सर टकराने की नौबत आ गई थी। लालटेन की पुकार होने लगी।

मेरे घर में कोई सिगरेट बीड़ी नहीं पीता इसलिए उसमें कभी-कभी दियासलाई का मिलना ऐसा दुश्वार हो जाता है जैसा कि आजकल के बाबू लोगों के घर में गंगाजल, चन्दन और माला का, अथवा किसी रायबहादुर के घर गांधी टोपी का (अब कांग्रेस गवर्नमेंट के आ जाने से शायद ऐसा न रहा हो।) उस समय दियासलाई का मिलना ज्योतिस्वरूप एवं ज्योतिस्रोत परमात्मा के मिलने के बराबर हो गया। लालटेन स्नेह-शून्य निकली। एक टूटी-फूटी टार्च थी किन्तु उसके ढूंढ़ने के लिए टार्च की जरूरत पड़ती। सन्दल घिसने की भांति वह कम सरदर्द न था। उस समय के अन्धकार में मेरी अव्यावहारिकता पर विद्युत प्रकाश पड़ रहा था, और सेलरों के निर्झर मेरी महान् मूर्खता की सनाद घोषणा कर रहे थे। खैर, जैसे-तैसे दीपक का आयोजन हुआ। उसको झंझावात का सामना करना पड़ा। हथेली और अंचल से उसकी कहां तक रक्षा होती? मेरे चाकर देव पड़ोस से लालटेन लाये। इतने में मेरा चालीस फुट लम्बा सेलर सेन्ट जान्स कालेज के स्विमिंग-बाथ की होड़ करने लगा। हम लोग शान्तिपूर्वक सब के साथ भीतर घर में बैठ गये। सोचा था चलो यह भी तजुर्बा हो गया। विश्वकर्मा के साक्षात अवतार श्रीमान् भौंदाराम ठेकेदार की बात कि 'हुजूर दरिया में घर बनाते हैं' जिजमान के बालों की भांति सामने आ गई। प्रलयपयोधि उमड़ रहे थे। प्रालेय हालाहल नीर' बरसने लगा। मेरे दरिया में तूफान आ गया।

नूह की किश्ती की खोज

मैं अपने हाल को नूह की किश्ती या मनु की नौका समझ रहा था। उस समय तक भी, 'अभाव की चपल बालिका, चिन्ता की प्रथम रेखा' मेरे ललाट के प्रांगण में खेलती हुई

नहीं दिखाई दी, किन्तु थोड़ी ही देर में पास के कमरे से 'चलियो' की आवाज आई। मेरे वाग के माली श्री मंगलदेवजी जो मेरे मंगल-विधान में सदा दत्तचित्त रहते थे चिल्ला उठे 'वावूजी उधर ही रहना' मैं समझा कहीं से सांप आ गया। खैर यह भी सही। मेरे दूसरे चाकर श्री रणधीर जी ने बड़ी धीरता-पूर्वक कहा कि कुछ नहीं जमीन बैठ गई है। बड़े आदमियों की भांति उसकी वात भी आधी सच थी। जमीन बैठी थी और फर्श के पत्थर आपस में सर से सर मिला कर खड़े हो गये थे मानो वे सचेत होकर मेरे परित्राण का उपाय सोच रहे हों। उसी समय मेरे सामने मेरी गुर्विणी महिषी (भैंस) की, जिसको कलियुग के व्यासजी ने अपनी कविता से अमर कर दिया है, समस्या मेरे सामने आई। उसका छप्पर भी तालाव वन चुका था। उस पर भी एक त्रिपाल डाल कर उसे दरवाजे पर खड़ा किया। वहुत कोशिश करने पर भी उसने वरामदे में पैर न रक्खा, शायद वह जानती थी कि उसका भी फर्श धसकेगा।

मेरे पड़ोसी सेन्टजान्स कालेज के सेक्रेटरी श्री ए.एन. वनर्जी साहव अपनी व्यवहार कुशलता की दिव्य दृष्टि से मेरा भविष्य देख चुके थे। वे शाम को ही कह गये थे कि यदि कोई तकलीफ हो तो उनका मकान मेरे 'डिसपोजल' पर है। उस समय तो मैंने उनका सहानुभूति पूर्ण निमंत्रण स्वीकार नहीं किया था किन्तु जब मेरे घर के सामने भी पानी बहने लगा और मेरा मकान प्रायद्वीप से द्वीप वन गया, बराण्डे और शयनागार का भी फर्श बैठ गया और उनकी टाइल मेरे बैठते हुये दिल की समता करने लगीं तव जल्दी से मैंने वनर्जी साहव का निमंत्रण स्वीकार किया। मकान से ताला लगाकर उनका द्वार खटखटाया। उन्होंने मुझे मेरे नौकर तथा मेरी भैंस को अपने यहां आश्रय दिया। चिन्ताग्रस्त मनुष्य को जितनी निद्रा आ सकती है उतनी ही नहीं उससे कुछ अधिक निद्रा मुझे आई क्योंकि कोठी के लिए तो मैंने कड़ा जी कर मन में सोच लिया था 'इदन्न मम, इदं वरुणाय।' निद्रा भंग करने की यदि कोई बात थी तो पड़ोस के काछी-कुम्हार सज्जनों और सज्जनाओं की करुण पुकार थी। मेरी भैंस तो सुरक्षित थी किन्तु गरीब लोगों के जानवर चिल्ला रहे थे। बहुत कोशिश करने पर भी मैं उनकी कुछ सहायता न कर सका, अन्धकार और जल के कारण 'समुझ परहिं नहिं पन्थ' की वात हो रही थी।

भीगे नयनों के सामने

सुवह उठकर जलप्लावन का व्यापक एवं भयंकर दृश्य देखा। मनु की भांति भीगे नयनों से तो नहीं कुछ करुण हास्य के साथ 'मैं देख रहा था प्रलय प्रवाह' और मुझे भी एक तत्व की प्रधानता 'कहो उसे जड़ या चेतन' दिखाई पड़ती थी। मैं स्वयं अपने को कामायनी का मनु ही नहीं वरन् स्वयं नारायण समझने लगा। 'नारासु अयनं यस्य सः नारायणः' मेरा घर भी पानी में था फिर नारायण होने में क्या कसर थी? इस प्रकार बिना करनी के ही मैं नर

से नारायण बना।

प्रातःकाल ही आगरे के महेन्द्रजी अपने नामरासी नन्दन कानन बिहारी सुरराज की काली करतूतों की आलोचना करने निकल पड़े थे। वे अजानु जल को पार कर मेरे यहां भी पधारे। मैंने अपनी समस्या का भार उनके सुविशाल स्कन्धों पर रख दिया। उन्होंने 'शुक्लश्यामांगशोभाढ्या नगर भाग्यविधायिनी, उर्वशीस्वरूपा चिरयौवना श्रीमती चुंगी देवी के रसिकपति श्री सेठ ताराचन्दजी से आग बुझाने का इंजन पानी की बाधा शमन करने के लिए मांगने का वायदा कर लिया। इंजन आया लेकिन अधिक प्रभावशाली और मुझसे कम मुसीबत जद लोगों के हाथ पड़ गया। स्वार्थों का संघर्ष था। करता भी तो क्या करता? उनके घर के आगे पक्की सड़क थी, मेरे घर के आगे बीनस नगर की सी पानी की सड़क। विधि के विधान से क्या वश चलता।

टिटहरी प्रयत्न

उस रोज सिवाय सहानुभूति प्राप्त करने के कुछ न कर सका। महाभारत में कथा है कि एक टिटहरी ने चोंच से समुद्र खाली करने का साहस किया था। हमारे पहले दिन के उद्योग तो करीब-करीब वैसे ही रहे। कुम्भज भगवान अगस्त देव की कृपा न हो सकी। उसकी मौसी बाल्टी देवी की जो कुम्भ की सगी परंतु छोटी भगिनी की गत न थी क्योंकि पानी फेंका भी जाता तो कहां? चारों ओर जल था। दूसरे दिन अगस्त ऋषि का यांत्रिक अवनार फायर ब्रिगेड का पम्प टनटन करता हुआ आया। उसके लिये सिलीपरों की सड़क तैयार करने में विद्यार्थियों ने जिनमे अधिकांश आगरा कालेज के थे, भगीरथ-प्रयत्न किया। घर में कुल सोलह सिलीपर थे। विद्यार्थीगण पीछे के सिलीपरों को आगे लाकर सड़क बनाते उसे मेरे घर ले आये। उस रोज की भीषण वर्षा के कारण फायर ब्रिगेड को भी हार माननी पड़ी, जितना पानी निकलता उतना ही रक्तबीज की भांति और बढ़ आता। विचारे विद्यार्थियों ने, जिनमें निजी सम्बन्ध के कारण केवल नृपतसिंह, सत्यदेव पालीवाल, चिरंजीलाल एकाकी, पदमसिंह शर्मा, तारासिंह धाकरे, प्रमोद चतुर्वेदी का नाम मुझे स्मरण है, कमर-कमर पानी में घुसकर बाहर का पानी रोकने के लिये मिट्टी भरे बोरों का बांध बांधा, किन्तु सब निष्फल हुआ। प्रकृति के तत्वों से लड़ना हंसी-खेल न था।

तीसरे दिन फिर टिटहरी प्रयत्न शुरू हुए। परातों से पानी उलीचा गया। चौथे दिन परोहे लगें। पांचवें दिन बड़ी सिफारिसों से चेयरमैन साहब के सामने प्रार्थी की भांति खड़े होकर अर्जपर्दाज करने पर इंजन मिला। सेलर का पानी निकला और फिर सन्धों से आया। संधें रोकने के लिये कोठी के चारों ओर मिट्टी डाली गई। फिर बाल्टियों और परोहों की शरण ली गई। बचा-खुचा कुछ पानी धरती माता ने सोखा और कुछ कुएं ने पिया। इस

प्रकार पूरे सप्ताह वाद जल बाधा मिटी। शायद व्रज पर भी ब्रजराज का सात रोज कोप रहा था।

पांचवे रोज सेन्टजॉन्स कालेज के स्काउटों द्वारा सेलर का सामान निकाला। लोगों ने अफवाहें उड़ा रखी थीं कि मेरे घर में आठ हजार रु. का नाज भरा था लेकिन हां दो शून्य कम करके अस्सी रुपये का अवश्य होगा। मेरे इटावा निवासी मित्र सूर्यनारायण जी अग्रवाल मुझे हाथ के कुटे चावल भेज दिया करते थे। चावल पांच दिन जलमग्न होने के कारण वेदान्ती बन गये थे। अब वे शीघ्र ही सिद्ध होकर व्यक्तित्वाभिमान छोड़ देते हैं और एकरस अखण्डमण्डलाकार हो जाते हैं। श्री गुरदेवजी (गुड़) कवीर की नमक की पुतली की भांति रसलीन हो गये थे। मेरे सेलर के चूहे छत से चिपके-चिपके छः दिन तक एकादशी मनाते रहे। बगीचा सब बरबाद हो जाने से अव मुझे माली की भी जरूरत नहीं रही। मेरी जल-कोठी परीक्षा में फेल होते-होते बच गई। मैं शायद अब झूठ भी कम बोलूं क्योंकि छत गिरने का अब अधिक भय हो गया है। मेरी छतें न्यायालयों की छतों से, जहां एक न एक पार्टी रोज झूठ बोलती है, कुछ अधिक कमजोर है। मैं भी ला-मकां (ईश्वर) होते-होते वच गया हूं, 'कोपोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः'।

जग बीती

मेरे घर का तो यह हाल था लेकिन मेरे आस-पास भी बहुत खैर न थी—जेल के पास नावें चलने की नौबत आ गई थी। सेन्टजॉन्स गर्ल्स स्कूल भी जलमग्न हो रहा था। बाढ़ का प्रभाव बड़ी दूर तक था। गांव के गांव जलमग्न हो गये थे। जानें बहुत तो नहीं गईं पर काफी गईं। चार-पांच दिन बाद जो लोग अपने घर लौट गये उनमें से एक परिवार के छः या सात आदमी दबकर मर गये। पहले दिन जो लोग घर से वाहर गये हुये थे उनको घर लौटना मुश्किल हो गया था। कई जगह जमीनें बैठ गई थीं। आगरा फोर्ट के पास तो सड़क फट गई थी और उसमें एक पुराना घाट निकल आया था, जिसके ऊपर हिन्दू और मुसलमान लोग अपना-अपना अधिकार वतलाते थे। खैर अब वह झगड़े की जड़ दबा दी गई है। दो-एक जगह सड़क टूट जाने के कारण बिजली के खम्भे भी गिर पड़े थे।

बाढ़ पीड़ितों की लोगों ने अन्न वस्त्रादि से खूब सहायता की। सभी शिक्षा संस्थाओं ने छुट्टी करके बाढ़-पीड़ितों को आश्रय दिया। मुझे भी जैन बोर्डिंग में आश्रय मिला था।

अब मैं अपने घर की याद कर हंस सकता हूं। उन दिनों हास्यरस भी जलमग्न हो जाने के कारण करुण रस में, जिसके देवता वरुण देव हैं, परिणत हो गया था। करुण-रस के उस लौकिक अनुभव की ईश्वर पुनरावृत्ति न कराये।

*****

आधा छोड़ एक को धावै

खेती और व्यापार

उत्तम खेती मध्यम बंज़,
निकृष्ट चाकरी भीख निदान।

ठलुआ-क्लब का सदस्य होने के नाते मेरा सिद्धांत-वाक्य यही था कि 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करे न काम। दास मलूका कह गये सब के दाता राम' फिर भी मेरे पूज्य पितृव्य कहा करते थे 'पूता करिये सोई जामें हंडिया खुदबुद होई।' मेरे पितृचरण जीवित थे इसलिए हंडिया खुदबुद होने की समस्या बड़े तीव्र रूप में तो उपस्थित नहीं हुई किंतु वह मौत की भांति बहुत दिनों तक टाली न जा सकती थी क्योंकि हमारे यहां न जिमीदारी थी न जिजमानी, जो बिना हाथ-पैर पीटे घर बैठे ही पैसा आ जाता। यद्यपि वैश्य कुल में जन्म लेने के नाते उत्तम खेती और मध्यम बंज की ओर मेरा स्वाभाविक आकर्षण अधिक था तथापि परिस्थिति-चक्र मुझे नौकरी की ओर घसीट ले गया। मनसूबे तो बहुत बांधे थे। पक्ष-विपक्ष की युक्तियों के तारतम्य को अपनी चरम सीमा तक ले जाने पर वाणिज्य की अपेक्षा मुझे खेती का नैतिक मूल्य बहुत जंचा। किन्तु आर्थिक मूल्य के सम्बन्ध में मेरा मन न भरा। साहित्यसेवा की भांति वह शौक की वस्तु प्रतीत हुई, सहारे की नहीं।

वाणिज्य में लाभ तो अधिक था 'व्यापारे बसते लक्ष्मी' किन्तु जोखिम भी कम न थी। बिना जोखिम का व्यापार मेरी बाबू-प्रकृति को कुत्ता-घसीटी जंची। मेरे बाबा तो उस कक्षा के दुकानदारों में से थे जो दुकान झाड़ते वक्त महादेव बाबा से छप्पन करोड़ की चौथाई मांगते हैं, और दिन भर आंख के अन्धे गांठ के पूरे ग्राहक की टोह में रहते हुए भी बस इतना ही घर ले जाते हैं कि सम्मानपूर्वक दोनों वक्त रोटी खा सकें। मेरे पिताजी ने एण्ट्रेन्स की परीक्षा पास की थी उनके लिए सरकारी नौकरी का द्वार उन्मुक्त था। वे उसमें प्रवेश कर क्लर्की के अन्तिम श्रेणी यानी जजी की मुन्सरिमी तक पहुंचे। मैंने वकालत भी पास किया था किन्तु उसे भी आकाशी वृत्ति समझ कर निकृष्ट चाकरी की ही शरण लेना पसन्द किया। मैं मोची का मोची ही रह गया। रियासत की नौकरी में दौड़-धूप तो काफी थी,

उत्तरदायित्व भी अधिक था, किन्तु कुत्ता-घसीटी न थी। एक जगह बैठकर कलम घसीटने के भीषण अभिशाप से बचा हुआ था। पुस्तकाध्ययन के लिए भी अवसर मिल जाता था और कभी-कभी 'वाहन कुल की परम गुरु' मोटरकार की सवारी में आरूढ़ हो इधर-उधर आम-जामुन भी खा आता था। किंतु जब श्रीमान् महाराजा साहब के व्यंग्य-बाणों का सामना करना पड़ता तब सारा नशा हिरन हो जाता। फिर भी जब महीने की पहली तारीख को ठनठनाते हुए बर्तुलाकार रजत-खण्डों के रूप में लक्ष्मी देवी का आगमन होता तो चेहरे पर मुस्कराहट की रेखा आये बिना नहीं रहती। (उन दिनों चांदी के सिक्कों का अभाव न था)।

यद्यपि स्वर्गीय महाराजा साहब उदारतापूर्वक अपने नौकरों को अपना उपकारक समझ उनके अहसानमन्द रहते थे तथापि कभी-कभी स्वाभिमान को आघात पहुंच ही जाता था। लेकिन वे तुरन्त आहत स्वाभिमान पर मधुर-हास्य का उपचार कर देते थे। वैसे तो नौकर सदा अपराधी होता है, मौन रहने पर मूक और बोलने पर अनुचित स्वतन्त्रता का अपराधी कहा जाता है। किन्तु जब कोई विकट समस्या उपस्थित होती है और निकास का मार्ग दिखाई न देता तब छटी का दूध याद आ जाता। ऐसे भी अवसर आये जब 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा' का सा युधिष्ठरी सत्य का प्रयोग करना पड़ा, अपनी रक्षा के लिए, दूसरों को आपत्ति में डालने के लिए नहीं। दूसरों को हानि पहुंचाने की शक्ति पर मैंने कभी गर्व नहीं किया।

तबेले के बन्दर की भांति दूसरों की अलाय-बलाय भी मेरे सर पर पड़ती थी। इसके लिए मेरा सर मजबूत हो गया। 'जो आज्ञा' शब्द जिसकी जिह्वा पर सदा नृत्य करे, जो स्वामि-कार्य को सम्पादन करने में आलस्य न करे, जो अपने दोषों की स्वीकृति में उदार से भी कुछ अधिक हो, जो मानापमान के द्वन्द्वों से परे हो, जो विद्यार्थियों की भांति श्वान-निद्रा और बकोध्यानी रह कर गृहत्यागी भी हो, जो स्वामी के हित के लिए अपने हित को तिलाञ्जलि दे सके, जो मार खाने पर रोये नहीं—ऐसे नवगुणों से सम्पन्न महापुरुष ही नौकरी का अधिकारी हो सकता है। नौ बातों को पूरा करने पर 'नौकरी' नाम सार्थक होता है।

महाराजा साहब की उदारता के कारण मुझ में इन नौ गुणों का पूरा विकास नहीं हुआ। बेईमानी का आसरा लिए बिना भी 'जलबिन्दु निपातेन क्रमशः पूर्यते घटः' के न्याय से मेरे पास धन इकट्ठा होने लगा, और मैं शीघ्र ही खलों की भांति बौरा उठा। कृषि गोरक्षा वाणिज्य का वैश्यधर्म सम्बन्धी गीतोपदिष्ट वाक्य का स्मरण कर कभी तो खेती की सोचता और कभी वाणिज्य की। गौ रक्षा नहीं तो दूध-घी की खातिर भैंस-रक्षा पहले से ही करने लगा था। दोनों कामों के करने में मुझे सहायकों की कमी न थी।

खेती में तो मेरा कलम घसीटने का भार हलका करने वाले मेरे क्लर्क महोदय मास्टर

घसीटेरामजी (खेद है वे अब स्वर्गीय हो गये) मेरे सहायक ही नहीं साझी भी बन गये। असली बात यह थी कि मैं उनका साझी बना। एक खेत स्वतन्त्र रूप से भी किया। उसमें पोटेशियम नाइट्रेट और सनई के हरे खाद को लगाकर गोबर कूड़े का भी खाद दिया। पूसा नम्बर चार और बारह के गेहूं बीज के लिए मंगवाये। कर्महीन खेती करें बर्द मरे सूखा परे, हुई तो दोनों ही बातें किन्तु कुए की खेती होने के कारण वह नितान्त आकाशी न थी। उसमें अधिक उपयोगिता नहीं तो कला अवश्य थी। मूली के सफेद फूल सरसों के पीले फूलों के साथ मिलकर एक नयनाभिराम दृश्य उपस्थित कर देते थे। कविवर निरालाजी तो उसे देख कर इतने प्रसन्न हुए कि उसको आतिशबाजी कहने लगे। ब्राह्मणों के वचनों में सत्यता रहती ही है। यह दरअसल धन की आतिशबाजी थी।

मेरे पिताजी ने मुझसे एक बार पूछा कि बेटा नौकरी में कुछ रुपया जमा किया है? मैंने कहा—'हां, वह खेत में जमा है।' फिर भी मेरी खेती नितान्त निष्फल नहीं थी। अपनी स्वतंत्र खेती से तो नहीं किंतु साक्षी की खेती से प्रायः साल भर के खाने के लिए गेहूं, घोड़े के दाने के लिये चने मिल जाते थे। मुझे और क्या चाहिए था? यह कभी हिसाब नहीं लगाया कि जितना रुपया लगाया था उतना भर पाया या नहीं? इसको राम जाने या कोई जानते हों तो घसीटेराम। हिसाब के लिए दिमाग खराब करने की फुर्सत किसे थी?

व्यापार का मुझे कुछ अधिक विस्तृत अनुभव है। खेती में रुपया न खराब कर मैं रुपया घर भेजने लगा। वह रुपया एक समीपवर्ती अन्न और कपड़े के व्यापारी के यहां आठ आना सैकड़े की ब्याज पर जमा होना शुरू हुआ। ब्याज में अन्न, वस्त्र और घी सभी कुछ मिलने लगा। घर के लोग प्रसन्न थे, बाजार जाने की झंझट से बचे और रुपया भी न देना। एक डेढ़ वर्ष बाद ही मेरे सेठजी को दस-पन्द्रह हजार का टोटा आया, उसमें वे मेरे भी चार हजार दे बैठे। ब्याज के लोभ में मूल भी गया।

साल दो साल बाद फिर कुछ रुपया इकट्ठा हुआ। मेरे एक मित्र ने अरहर की एक खत्ती प्रत्यक्ष रूप से भरने की सलाह दी। खत्तियां गोदाम की भांति प्रत्यक्ष रूप से भी भरी जाती हैं और केवल आंशिक निष्क्रय देकर अप्रत्यक्ष रूप से भी। मेरे मित्र ने कहा था कि अरहर कभी-कभी चिरोंजी के भाव बिकने लगती है। मैं इसी आशा में रहा कि ऊने के दूने होंगे किंतु सहसा उनकी चिट्ठी आई कि अरहर का बहुत मद्दा भाव हो गया है, वे उसे बेचे डालतें हैं। अधिक रोकने से घुन लगने की सम्भावना थी। चिरोंजी के लालच में 2200 रुपये में 800 का नुकसान उठाया। मेरे मित्र सज्जन थे, उन्होंने पीछे से और किसी काम में इस नुकसान की पूर्ति कर दी।

मैंने तीन-चार बार शेयर भी खरीदे किन्तु जिस कम्पनी में मैंने भाग लिया उस कम्पनी

का भाग्य फूटा और साथ ही मेरा भी। रिजर्व बैंक के शेयरों का भाव ग़िरने पर मैंने उनको बेच डाला किन्तु जब से मैंने उनको बेचा है तब से उनका भी भाव बढ़ गया। 'भाग्य फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषं।'

लोग बीमा कराना कम जोखिम का काम समझते हैं। जोखिम कम्पनी का अधिक रहता है। किंतु दो एक कम्पनियों में तो पौलिसी लैप्स हो गई है और जिसमें चलती रही वह लिक्वीडेशन में आ गई।

मैंने रुई और सोने में भी अपना भाग्य परीक्षा की। रुई पांच आने की गाय की भांति अप्रत्यक्ष रूप से भरी थी। उसका भाव-ताव समझने लगा था किंतु उसमें एक साथ अढ़ाई सौ रुपये की हानि हुई। मुर्गी के लिए तकुए का घाव भी बहुत होता है। मैंने कान पकड़कर तोबा की शपथ खाई और बड़े धार्मिक भाव से संकल्प किया 'अबलौं नसानी अब ना नसैहौ।' किन्तु लालच बुरी बलाय है। मन अपना हठ नहीं छोड़ता, "मेरा मन हरिजू हठ न तजै।" बस यही हाल मेरे मन का था।

सोना जब बाइस रुपये तोला हुआ तो पचास तोला खरीदने की सूझी। बिना किसी जान पहचान के ही शेयर मार्केट के भाव की गश्ती चिट्ठी भेजने वाली बम्बई की एक फर्म को रुपया भेज दिया। माल न आने पर दुकानदार से तकाजा किया तो उसने कहा एक बार बेच कर दुबारा आपके लिए खरीद लिया इसमें आपको पचास का फायदा हो गया, एक बार फिर ऐसा करूंगा। मैं प्रलोभन में आ गया किन्तु जब तीन महीने तक स्वर्ण के दर्शन नहीं हुए तब एक आदमी को बम्बई भेजा, वह बिचारे बड़ी मुश्किल से उसको लाये। दूसरी बदली में दुकानदार ने नुकसान दिखा दिया। फिर भी परमात्मा का शुक्र मनाया। किन्तु बकरे की मां कब तक खैर मनाती? जो वस्तु भाग्य में नहीं होती वह ठहर नहीं सकती। कानपुर में वह सोना चोर के हाथ लगा और उसके बाद भाव भी ऊंचा चढ़ गया। मैं हाथ मलता रह गया।

फिर भी हिम्मत नहीं हारी। एक बार आगरे में ही प्रत्यक्ष रूप से चांदी खरीदने का विचार किया, दलाल लोगों शहद की मक्खियों की तरह चिंपट गये। मेरे और मेरे सम्बन्धी को, जो मेरे साथ थे, मठे की रस्सी की भांति खींचा-तानी होने लगी। मेरे सम्बन्धी पूरे बनिये थे, उनको भाव-ताव करने में मजा आता था और मुझे झूंझल। रुपया अधिक न होने से आधी सिल मेरे उन्हीं सम्बन्धी ने ली। सिल कटवाने दूसरी किसी गली में जाना था। सिल के बोझ से आदमी भागता जाता था, उसके पीछे हम भी जैसे चोर का पीछा कर रहे हों हांफते-हांफते घुड़दौड़ करते थे। जैसे-तैसे लुहार के यहां पहुंचे, वहां पन्द्रह-बीस सिल और रक्खी थीं उन दिनों हरएक को चांदी खरीदने का भूत सवार था। नम्बर आने के लिए शेविंग सेलून के उम्मीदवार की भांति बहुत देर तक इंतजार करना पड़ा। शेविंग सेलून में तो कुर्सी

मिल जाती है, कभी-कभी अखबार भी किन्तु इसमें अपनी टांगों के बल खड़े होने standing on ones legs की शिक्षा थी।

फिर तुलवाने की समस्या आई। दुबारा मजदूर के पीछे भागे। तुलवाने पर मेरे सम्बन्धी अपने गांव चले गये और मैंने एक डलिया वाले मजदूर को डलिया में उसे रख मजदूर की नीयत साबित रखने के लिए उसे सीसे की सिल का टुकड़ा बतला दिया, लेकिन मजदूर की दबी हुई मुस्कराहट ने बतला दिया कि वह पहली बार ऐसी सिल्ली लेकर नहीं गया है। मैंने रास्ते में उसे तरकारी-भाजी से आच्छादित कर दिया। मुझे डर था कि कहीं सत्यनाराण की कथा की नौका की भांति उसमें लता-पता ही न रह जाय, इसलिए उसके पीछे भागना पड़ा। जैसे-तैसे राम-राम करते घर आया। एक बार मेरे घर से नहीं तो धर्मशाला से सुवर्ण की (सोने की, मैं कवि नहीं जो मेरे छन्दों की कोई चोरी करता) चोरी हो चुकी थी, अब मैं चांदी को भी घर में रखकर विशेषकर जिसके अस्तित्व का रहस्य मजदूर को भी मालूम था खतरे को निमन्त्रण नहीं देना चाहता था। दूध का जला छाछ को फूंक-फूंककर पीता है। चांदी को बैंक पहुंचाने का सवाल आया। पूरी सिल्ली होती तो कोई दिक्कन न थी, बैंक वाले नम्बर नोट कर उसे जैसी की तैसी रख लेते किन्तु आधी सिल्ली के लिए सील मुहर से पूर्ण कपड़े में सिल्ली वाक्स चाहिए। कहीं से चपरा लाय' तो कहीं से दियासलाई। सब सामान जुट जाने पर पार्सल तैयार हुई। भागते-दौड़ते उसे बैंक पहुंचाया। तीन बज चुके थे किन्तु बैंक वालों को मेरी परेशानी पर दया आ गई। फार्म भर-भरा कर वह मुद्रांकित मञ्जूषिका बैंक के तहखाने में सुखासीन कराई गई। तव कहीं दम में दम आई। खैर इतनी मेहनत करने पर नुकसान नहीं हुआ। उसमें साठ या सत्तर रुपये का लाभ हो गया। आप मरे ही स्वर्ग दीखता है। कभी-कभी मर कर भी नरक भोगना पड़ता है।

इस करुण कहानी को पढ़कर कोई महाशय व्यवसाय से उदासीन न हो जायं। वैसे तो 'हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश विधि हाथ' है, फिर भी इस हानि में मेरी अनुभव-शून्यता वहुत-कुछ उत्तरदायी है। बात यह है कि हम लोग बिजनेस में बिना विशेष शिक्षा लिये ही कूद पड़ते हैं और समझने लगते हैं कि जिस प्रकार मछली को पानी में तैरने का जन्मसिद्ध अधिकार है वैसा ही व्यापार में वैश्यों का। यद्यपि जाति का थोड़ा वहुत असर होता है तथापि सफलता के लिये शिक्षा अनिवार्य है। जिस प्रकार बिना शिक्षा के डाक्टरी करना खतरनाक है उसी प्रकार बिना शिक्षा के व्यापार।

अव तो धक्के खाकर होशियार हो गया हूं। अब गांठ में कुछ न रहने पर यह बात गांठ बांध ली है कि 'आधी छोड़ एक को धावे, आधी रहे न पूरी पावे'। परमात्मा करे वह आधी सलामत रहे।

*****

खट्टे अंगूर

मेरा जीवन बीमा

लोगों का कथन है कि दो अत्यन्त प्रतिकूल बातें अन्त में आकर मिल जाती हैं। यह युग जितना ही क्रियाशील है उतनी ही इसमें बेकारी बढ़ी हुई है। जिस प्रकार दीपक से कज्जल उत्पन्न होता है उसी प्रकार अत्यन्त क्रिया निष्क्रियता की उत्पादक बनी रही है। बेकारी का प्रश्न तो कवि कुल चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी के समय से चला आता मालूम होता है, क्योंकि उन्होंने कहा है कि—

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को न बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों कहां जाई, का करी।।

तब तो राम भजन से समय कट जाता था और बेकारी नहीं अखरती थी। बेकारी को मानते हुए गोस्वामीजी ने दो काम भी बता दिये थे। 'खाने को टुकड़ा भलो, लेने को हरि नाम' लेकिन अब तो टुकड़े में भी हानि आ गई है और रामजी का नाम कुटिल कलि-काल के कुचक्र से अन्य सद्धर्मों की भांति लुप्तप्राय हो गया है। अब श्री गोस्वामीजी ने अपने कथन में स्वयंम् ही निम्नलिखित संशोधन स्वर्ग से वायरलैस द्वारा भेजा है—'खाने को धक्का भलो, लेने को विश्राम' महात्मा तुलसीदासजी के इस नैराश्य को देखकर एक मन चले महाशय ने उसमें यह अन्तिम संशोधन कर दिया है—

तुलसी या संसार में कर लीजे दो काम।
इक चुंगी की मेम्बरी, अरु बीमा को काम।।

वास्तव में बीमा के काम ने इस युग में बहुत लोगों को जाब्ता फौजदारी की 107, 208, 109, या 110 दफा के चंगुल में आने से बचा दिया है। यद्यपि यह संदेह है कि बीमे के काम से निश्चिन्त रूप से रोटियां मिलती हैं या जेल की चहारदीवारी के भीतर? अस्तु

रोटियां चाहे मिलें या न मिलें बिना किसी योग्यता के लोग 'एजेण्ट' की पदवी से विभूषित हो जाते हैं। आजकल सेवा-धर्म बढ़ जाने से अथवा यों कहिए कि डाक्टरों की संख्या में बढ़ती के कारण साधारण लोगों में फीस देना ऐसा ही बन्द हो गया है जैसा कि दान-धर्म। किन्तु कम्पनियों की बदौलत डाकटरों को पूरी-पूरी फीस के दर्शन हो जाते हैं। अखबार बाले भी कुछ थोड़े से बीमा सम्बन्धी विज्ञापन प्राप्त कर बीमा कम्पनियों की खैर मनाते हैं।

बीमा कम्पनियों की एजेन्सी मिल जाना कठिन बात नहीं किन्तु पालिसी खरीदने वाला आदमी मिलना इतना सहज नहीं है। जमींदार लोग तो पुश्त-दर-पुश्त के लिए निश्चिन्त हैं (अब ऐसी बात नहीं है, अब उनका अस्तित्व ही मिट गया)। और बौहरे लोगों को बिचारे काश्तकार सलामत चाहिए, उनकी दिन-दूनी रात चौगुनी ब्याज पक्की है। फिर वे बीमा जैसी संदिग्ध संस्था की क्यों परवा करें? अब रह गये बिचारे नौकरी पेशा और बेकार लोग। नौकरी पेशा वाले अवश्य कभी-कभी बीमा वालों के चक्कर में आ जाते हैं। जहां उनसे कहा गया कि देखिए कम्पनी कितनी जोखिम (रिस्क) लेती है और जहां उनके सामने आजकल की नई-नई बीमारियों के भयंकर दृश्य अंकित किये अथवा भूचालों, साम्प्रदायिक दंगों और रेल-दुर्घटनाओं की करुण-कथा सुनाई वहां उनके हृदय में बीमा कम्पनी के लिए कुछ स्थान हो गया। और जब उनको बतलाया गया कि वैसे तो आप कुछ नहीं बचा पाते किन्तु इसके कारण आप अनिवार्य रूप से मितव्ययता (compulsory economy) कर सकेंगे, वहीं उन पर जादू पूरा असर कर जाता है। किन्तु वे लोग समयाभाव के कारण सहज में हाथ नहीं आते। उनके पीछे जब कोई हाथ धोकर सत्तू बांधकर पड़ जाय तब कहीं उनसे साक्षात्कार हो पाता है। और यदि वे फैशन भक्त हुए तो उनके ऊपर अनिवार्य मितव्ययता का ऐसा ही असर नहीं होता जैसा कि सती के हृदय पर कामी पुरुषों के बचनों का।

बेकार लोगों में दो श्रेणियां हैं—प्रथम श्रेणी में तो वे शुद्ध निर्लेप बेकार हैं जिनको न काम से काम है और दाम का नाम ही सुनाई पड़ता है। दूसरी में वे लोग हैं जिनके पास कुछ काम तो नहीं हैं किन्तु जीवन के पहले भाग में किये हुए सत्कर्मों के फलस्वरूप मास प्रति-मास कुछ कलदार आ जाते हैं। ये लोग बेकारी के पवित्र नाम को वदनाम करते हैं। पहले प्रकार के लोगों के पास जाने का तो बीमा बम्पनी वालों को साहस कहां? क्योंकि उनमें से प्रत्येक बीमा कम्पनी के एजेन्ट बनने की प्रबल सम्भावना रखता है। एक पेशे के लोग कभी प्रेम से नहीं रह सकते 'याचको याचकं दृष्ट्वा श्वानवत गुरगुरायते'। दूसरे प्रकार के लोगों के पास जाने का वे थोड़ा-बहुत साहस करते हैं। किन्तु उनकी पचपन साला आयु देख कर उनसे इतने शंकित हो जाते हैं जितना कि लाल कपड़े से एक ग्रामीण बैल। किसी

न किसी क्षेत्र में श्वेत केश वालों को केशव की भांति पछतावा करना पड़ता है। वे लोग तो शायद अपनी जान का सौदा करने को सहज में तैयार हो जायं किन्तु एजेन्ट लोग उस सौदे को सहज में स्वीकार नहीं करते। बीमा कम्पनियों के सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश मैं एक ऐसा जन्तु था जो पेन्शनयाफ्ता होता हुआ भी 50 साल से कम आयु का था।

जहां अड़ोस-पड़ोस के लोगों को मेरी परिस्थिति मालूम हुई वहां एजेन्टों ने मेरा पीछा करना शुरू किया। करीब-करीब उसी लगन से जिससे कि क्वारे ग्रेज्युएट को अविवाहित लड़कियों के पिता भाई आदि। मेरे पास कोई ऐसा दुर्ग न था कि जहां जाकर छिप जाता। बीमें के प्रस्ताव होने लगे। सोते-जागते, उठते-बैठते, टहलते दिन-रात बीमा की चर्चा होने लगी। दो एक एजेण्ट तो आपस में वाक्‌युद्ध भी करने लग जाते थे। बीमें के प्रस्तावों के कारण मेरी नींद हराम हो गई। जान का बीमा क्या था, जी का जंजाल हो गया। औरों से तो जैसे-तैसे पीछा छुड़ा पाया किन्तु एक महाशय तो मेरे पड़ोस में रहते थे उनसे पीछा न छुड़ा सका। इत्तफाक से वे ब्राह्मण भी थे। फिर क्या था, मैं गिरधरजी के शासन में आ गया—विप्र और पड़ौसी को तरह देनी ही पड़ती है।

मैंनें उनसे पूछा—"आप काहे का बीमा कराना चाहते हैं?" उत्तर मिला 'जान का'। मैंने कहा कि भाई मैं अपनी जान कहीं पारसल करके नहीं भेजना चाहता जो बीमा कराऊं। मुझसे कहा गया कि बीमा करा कर आप भविष्य के लिए निश्चिन्त हो जायेंगे। मैं भली प्रकार जानता था कि चिता और चिन्ता में एक बिन्दी का अन्तर है और चिता में जलने के लिए कुछ अभ्यास भी चाहिए था। इसलिए चिन्ता को जो मेरे जीवन की चिर संगिनी थी सहज में परित्याग नहीं करना चाहता था, लेकिन 'अर्थी दोषं न पश्यति'। एजेण्ट महोदयों पर मेरी युक्ति का इतना भी असर नहीं हुआ जितना कि तवे पर बूंद का। बाबा तुलसीदासजी के शब्दों को लौट-फेर सकूं तो कह दूं 'बुन्द अघात सहें गिरि जैसे'। उन्होंने मेरी सम्मति ठीक तो यों है कि मौन रूपी अर्ध सम्मति प्राप्त कर ली। मेरे सामने फार्म रख दिया गया और मैंने 5000 के लिए आंख बन्द करके दस्तखत कर दिए। 5000 से कम का बीमा कराना मैं अपनी शान के खिलाफ समझता था। क्योंकि अगर कभी इज्जत-हतक का मामला चलाना हुआ तो 5000 से अधिक का दावा कर सकूंगा। इज्जत-जान से ज्यादा मूल्य रखती है। दस्तखत तो सहज में हो गए किन्तु जिस प्रकार विवाह कर लेना आपत्तियों का आरम्भ है उसी प्रकार दस्तखत कर देना भी आपत्तियों को मोल लेना था।

दस्तखत के पश्चात् ही मुझ से पूछा गया कि आपकी जन्म पत्री कहां है। मैंने कहा—क्या आप पाराशरी अथवा वृहज्जातक के अनुकूल मेरी आयु का निर्णय करना चाहते हैं? उन्होंने कहा—भविष्य की नहीं वरन् वर्तमान की। मैं तो यह समझता था कि जिस प्रकार बीमा

के व्यवसाय ने एजेन्टों, डाक्टरों और अखबारों को रोजगार दिया है उसी प्रकार शायद बीमा कम्पनियां ज्योतिषियों को भी आजीविका देंगी। आजकल अंग्रेजी पढ़ जाने के कारण लोग ज्योतिषियों से काम नहीं लेते हैं। जब सनातन धर्मी लोग इस ओर ध्यान देंगे और शुद्ध सनातन धर्मियों की बीमा कम्पनी बनेगी तब डाक्टरों की अपेक्षा ज्योतिषियों की परीक्षा को अधिक महत्व दिया जायगा किन्तु अभी तो डाक्टरों की ही चलती है।

यदि बीमा कम्पनियों को ज्योतिष में विश्वास होता तो मैं डाक्टरी से बच जाता किन्तु वृथा प्रलाप से क्या लाभ? मेरी नाप तोल की गई, मानो मैं कोई क्रय-विक्रय की वस्तु था। मुझे तक पर बैठाया गया। यदि तुला कराई गई होती तो बेचारे ब्राह्मणों का भला होता। मालूम नहीं तुला पर बैठ कर मुझे तुलादान का फल मिलेगा या नहीं? मेरी छाती कमर पैर सब का नाप हुआ। जब दर्जी नापता है तब तो यह सन्तोष रहता है कि नया सूट पहिनने को मिलेगा, किन्तु यहां क्या रक्खा था? बीमार की भांति पलंग पर लेटना पड़ा। वैसे तो मेरा शरीर रोगों का अड्डा बना हुआ था क्योंकि आजकल 'योगेनान्तेतनुः त्यजाम्' के स्थान में 'रोगेणान्तेतनुस्त्यजाम्' का पाठ हो गया है किन्तु मैं बहुत से रोगों के बारे में डाक्टर की आंखों में धूल झोंकने में सफल हुआ। एक लम्बी चौड़ी प्रश्नावली का उत्तर देना पड़ा। यदि सब बातों का बिलकुल सच्चा-सच्चा उत्तर दिया जाय तो स्वयं भगवान धन्वन्तरि भी परीक्षा में फेल हो जायें। मैंने अदालत के सत्य-मूर्ति गवाह की भांति सच और बिलकुल सच के सिवाय और सब कुछ कहा। लेकिन बकरे की मां कब तक खैर मना सकती है, मेरे शरीर के अंग-प्रत्यंग ने मरे विपरीत गवाही दी।

जब मकनपुर या बटेश्वर की हाट में खरीदे जाने वाले बैल या बछड़े की भांति मेरे दांत देखे गये तो टूटे हुए दांत को न छिपा सका। मैं तो इस बात में महात्मा गांधी से समानता करके मन खुश कर लेता था। शुष्क हृदय डाक्टर लोग इसे वार्द्धक्य का चिन्ह समझते हैं। और स्थान में वृद्ध लोगों का आदर होता है, किन्तु कलियुगी बीमा कम्पनी वाले वयोवृद्ध लोगों का आदर नहीं करते। डाक्टर विचारे को भी मेरा केस मिला था। वे सत्य वक्ता होने की धाक जमाना चाहते थे, मैं फेल होता या पास उन्हें फीस से काम था।

मैंने दांत के सम्बन्ध में युधिष्ठरी सत्य भी बोला लेकिन उन्होंने एक न मानी। उन्हें तो टके सीधे करने से काम था, 'मुर्दा चाहे इस घाट जाय चाहे उस घाट जाय बन्दे को कफन से काम'। हां, विचारे एजेन्ट महोदय मेरी परीक्षा की सफलता के लिए उतने ही उत्सुक थे जितना कि मैट्रिक का परीक्षार्थी अपने शुभ फल के लिए। यदि मेरा बीमा हो जाता तो शायद मेरे बच्चों को तो मरने के पश्चात् ही फल प्राप्त होता किन्तु एजेन्ट महोदय का कमीशन पक्का था। 5000 का बीमा हो जाने से उनकी कम्पनी में उनका कुछ आदर भी होने लगता।

डाक्टर ने मेरे सामने बहुत चिकनी-चुपड़ी बातें कहीं और मुझे विश्वास हो गया कि शायद मेरा प्रस्ताव स्वीकृत हो जायगा। मैं निर्भय जीवन व्यतीत करने का स्वप्न देखने लगा। एवरेस्ट की चोटी पर जाने तक के मन्सूबे बांधने लगा। हिन्दू-मुस्लिम दंगों में शामिल होकर नेता बनने की भी आशा करने लगा। किन्तु मन चीते क्या होता है, प्रभु का चीता होता है। थोड़े ही दिन पश्चात् बड़ा शिष्टाचार पूर्ण पत्र मिला कि यद्यपि हम इस बात के आपके आभारी हैं कि आपने हमारे यहां बीमा कराने का निश्चय किया तथापि हमें खेद है कि आपका प्रस्ताव स्वीकार नहीं कर सकते। पहले तो कुछ आघात-सा लगा लेकिन फिर मन समझा लिया कि आंख फूटी पीर गई। बार बार त्रैमासिक रुपया भेजने के भार से बचा, बच्चों के लिए तो निश्चिन्त हो जाता। किन्तु प्रीमियम भेजने की चिन्ता तो मुझे शीघ्र ही मृत्यु के निकट पहुंचा देती।

फिर मैंने अपना निश्चय बदल दिया कि न मैं अब विज्ञान के लिए अपना बलिदान करूंगा, न धर्म के लिए और न देश और जाति के लिए। सुख की नींद सोकर अपना जीवन व्यतीत करूंगा। बस मैंने सोच लिया कि नाखून और सर के बाल कटा कर आत्म-बलिदान का आत्मबोध प्राप्त कर लिया करूंगा। सर न सही तो सर के बाल ही सही।

बीमा कम्पनी वाले शायद इस सिद्धांत को नहीं जानते कि रोगी लोग ही चिरजीवी होते हैं क्योंकि उनको रोग के कारण अपना जीवन नियमित रखना पड़ता है। मुझे आशा है कि भले स्कूल के लड़के की भांति अपना जीवन नियमित रख कर जान-बूझ कर आग में न कूदूंगा और हनूमान बाबा, अश्वत्थामा, लोमश ऋषि, भगवान् भुवन भास्कर सूर्यदेव और भूत भावन मृत्युंजय महादेव कृपा करके मुझे दीर्घजीवी बना देंगे। रहा बाल-बच्चों का प्रश्न उसके लिए मैंने सन्तोष कर लिया है कि 'पूत सपूत तो क्यों धन संचय, पूत कपूत तो क्यों धन संचय'। जीवन-बीमा के अंगूर मुझे खट्टे प्रतीत होते हैं।[1]

वैसे नुकसान बीमा कम्पनी का भी रहा क्योंकि साठ वर्ष की अवस्था में पालिसी पकने वाली थी। अब मैं उनहत्तर से ऊपर हो ही गया हूं मुझे भी अफसोस है कि डाक्टर की अनुचित सतर्कता और ईमानदारी के कारण मकान बनाने के पश्चात् 5000 रु. अधिक अपनी पास बुक में देखने और गार्हस्थिक चिन्ताओं से मुक्त होने के सुख से वंचित हो गया हूं।

*****

---

1. एक बार फिर बीमा वालों की बातों के फेर में पड़ कर जान का बीमा करा बैठा। एजेन्ट साहब एक रोज मुझे अपनी मोटर में हवा खाने लिवा गये। हवा में मेरा बीमा न कराने का संकल्प हवा हो गया। डाक्टर ने भी सरसरी जाँच की, क्योंकि वे काम में अधिक व्यस्त रहते थे। मैं जाँच में पास हो गया, बड़ी प्रसन्नता हुई। किन्तु दुर्भाग्य से वह कम्पनी Liquidation में आ गई। प्रीमियम देने से छुट्टी मिली। अब मैं निश्चिन्त हूँ।

श्रीरामजी-प्रीत्यर्थम्

मेरे जीवन की अव्यवस्था

विश्व-व्यापकता का यदि कुछ महत्व है, तो मूर्ख-सम्प्रदाय के आगे दुनिया में कोई सम्प्रदाय नहीं ठहर सकता। संसार में कोई ऐसा व्यक्ति, दल या समुदाय नहीं, जो किसी-न-किसी द्वारा मूर्ख न समझा गया हो। इस पद के लिये न क़िसी को सलाम झुकाने की आवश्कता है, और न अख़बारों में अपने कारनामों का ढिंढोरा पीटने की फिक्र। इसके लिये चातक-दृष्टि लगा कर ऑनर्स-लिस्ट की भी बाट नहीं जोहनी पड़ती। इस सम्बन्ध में यह कहने की भी आवश्यकता नहीं कि "गुन ना हिरानो, गुन गाहक हिरानो है।"

इस परम पुनीत, आदितम सम्प्रदाय के काशी और प्रयाग की भांति शिकारपुर और भौगांव दो तीर्थ स्थान हैं। इनमें प्रधानता किसकी है—इस महत्वपूर्ण प्रश्न का निर्णय करने "कवयोऽप्यत्र मोहिताः" फिर 'अस्मदादिकानां का वार्ता?'

यद्यपि भौगांव से मेरा सर-सरसिज, राका-राशि या वलय और मणि का सा कोई सहज सम्बन्ध नहीं, तथापि मेरे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर स्वरूप परम दैववत् गुरुदेव (पण्डित गिरजाशंकर मिश्र), जिनके चरणांबुजों का चंचरीक बन कर मैंने विद्याओं की विद्या देववाणी (संस्कृत) का अध्ययन किया था, इसी पुण्य क्षेत्र के निवासी थे। उन्हीं की कृपा का बल प्राप्त कर मैंने फारसी छोड़कर नाइन्थ क्लास में संस्कृत ली थी, और जिस प्रकार नया मुसलमान अल्ला-ही-अल्ला पुकारता है, मैं भी बात-बात में संस्कृत बघारने लग जाता था। यद्यपि मिथ्या पाण्डित्य प्रदर्शन की यह आदत अच्छी नहीं, तथापि नीलकण्ठ भगवान शंकर के कण्ठस्थ विष की भांति मैंने इसे छोड़ा नहीं। "अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति" खद्दर पर सलमे-सितारे के काम की भांति समय-कुसमय में अपने लेखों में संस्कृत के अवतरणों का पुट देकर एक साथ अपनी विद्या और अविद्या का परिचय देता हूं, क्योंकि उनमें प्रायः गलतियां रह जाती हैं, और इस प्रकार तम और प्रकाश का सम्बन्ध, जिसे वेदान्तांबुज सूर्य श्री शंकराचार्य ने असम्भव माना है[1], सम्भव हो जाता है।

---

1. युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमः प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धयां तद्धर्माणमपि सुतरामितरेतर भांवानु पपत्तिः। (शा०भा० भूमिका)

यह कुछ विषयान्तर-सा हो गया, किन्तु इस मूर्खता के लेख में संगति की खोज करना असंगति है और युक्तिमत्ता की आशा करना मूर्खता (गरल सराहिय मीचु)। अस्तु, महर्षि देवेन्द्रनाथ की जीवनी में मैंने पढ़ा था कि उनकी तारीफ में इससे अधिक अच्छी बात क्या हो सकती है कि वे विश्व कवि रवि बाबू के पूज्य पितृदेव हैं। कुछ-कुछ ऐसा ही सम्बन्ध भौगांव का मैनपुरी से है, जहां मैंने अपने जीवन की अरुणोदय सी स्वर्णिम बाल्य-वेला बिताई थी। भौगांव मैनपुरी के ही जिले में है।

'सियाराममय सब जग जानी' वाले विश्व मैत्री के नाते कुछ अधिक घनिष्टतर और राज्य की नौकरी से च्युत होने के कारण मेरे समानधर्मी मित्र, जो एक बड़े मासिक पत्र के सम्पादक हैं, मुझ से प्रायः यह पूछ कर कि मैं मैनपुरी में कितने दिन रहा, बड़े गर्व और आत्मसन्तोष के साथ अपने हास्य-विनोद-प्रेम का परिचय दे देते हैं। उनका घर भी मैनपुरी जिले में है और शायद ससुराल भी। उन्हीं के प्रीत्यर्थ में यह लेख लिख रहा हूं।

यद्यपि मैं अपने शिकारपुरी मित्र की, जिनका मैं विशेष परिचय दूंगा, प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सकता, कहां राजा भोज और कहां गंगा तेली? तथापि मेरे जीवन में अव्यवस्था, अव्यवहारिकता, अदूरदर्शिता, अज्ञान और भुलक्कड़पन की मात्रा पर्याप्त रही है।

अव्यवस्था ही मेरे जीवन की व्यवस्था है। आदर्शवाद से मैं कोसों दूर रहा हूं, और मैं समझता हूं, जीवन में जो कुछ कर सका हूं, इसी कारण कर सका हूं। 'अकरणात्मन्दकरणं श्रेयः' मेरे जीवन का मूल मन्त्र रहा है। एक आदर्शवादी राज्य में मैंने कुछ दिन काम किया था। मेरे चार्ज में एक स्कूल भी था। उसके छात्रावास के लड़कों के पलंग की चादरों के सम्बन्ध में मैंने रिपोर्ट की। उसी के साथ मेरे आकाए-नियामत ने उनकी सारी पोशाक का प्रश्न उठाया। वे स्वदेश भक्त थे, फिर भी रेकिन और एस्किथ एण्ड लॉर्ड तक के यहां से कोटेशन मंगवाये गये। लाल इमली, धारीवाल और बांबे वुलेन मिल्स और न जाने कहां-कहां से नमूने और टेंडरों का आवाहन हुआ। जूतों की कीमत जानने के लिए आगरे और कानपुर को कागज के घोड़े नहीं, बिजली तक के घोड़े दौड़ाये गये। लड़के भी यह स्वप्न देखने लगे कि हम राजा साहब की सारूप्यता प्राप्त कर लेंगे, सालोक्यता और सामीप्यता तो उन्हें प्राप्त थी ही। लेकिन उनका स्वप्न रात्रि के पूर्वार्द्ध का स्वप्न निकला। (ऐसा विश्वास है कि जो स्वप्न रात्रि के पूर्वार्द्ध में देखे जाते हैं वे चरितार्थ नहीं होते) मेरी स्थिति के सात मास बीत गये, फिर भी बेचारे विद्यार्थियों के पलंगों की चादरें वैसी ही रहीं। उसके छः महीने बाद भी मुझे स्वयं राजा साहब के एक पत्र से ज्ञात हुआ कि आश्रम में लड़कों के पैरों को तब तक जूते भी नहीं मिले थे। ऐसे आदर्शवाद के मैंने सदा हाथ जोड़े हैं, और उसी के साथ आदर्शवादियों के भी। उस रियासत से मुझे शीघ्र ही पतंग कटानी पड़ी। एक फाइल का

स्वयं पता देने के कारण मेरा तनज्जुल हुआ, होम करते हाथ जला। मैंने त्यागपत्र दिया उसकी स्वीकृति स्थगित रही। इतने में होली का पर्व आया। देव-मंदिर में होली धूम-धाम से मनाई गई। रंगरेजी और रंगरेली (शाब्दिक अर्थ में) हुई। मंदिर के भीतर-बाहर रंगीनी जल का साम्राज्य हो गया दूसरे रोज भक्त-रूप से राजा साहब को देव दर्शनार्थ पधारना था। मंदिर का रंग धुलवाने और जल को सोखने का प्रबन्ध मेरे जिम्मे था। वरुणदेव की मेरे ऊपर बड़ी कृपा है। एक साल मेरे मकान पर आक्रमण किया था, उस साल मेरी रोजी पर। मंदिर के भीतर का जल सूख गया था। बाहर एक जगह से वह नितान्त निःशेष न हो सका। मैं अगस्त्य मुनि का अवतार न था। निःशेष न होने का कारण यह था कि वहां कोई मोरी न थी। मेरे पास साधनों के साथ समय का भी अभाव था। राजा साहब के चरणांबुजों को आर्द्र करने के लिए जल पर्याप्त से कुछ कम था, सोमूकाशी-विश्वनाथ के मंदिर के रौप्य-राशिजटित धरातलगत जल के संहस्रांश से शायद कुछ अधिक।

राजा साहब की भक्ति भावना उनकी प्रबन्धप्रियता पर विजय न पा सकी। तुरन्त मेरी और किसी दूसरे कसूर पर फौज के अफसर की मुअत्तली का हुक्म निकल गया। फिर राजा साहब ने बड़ी भक्ति के साथ देव-दर्शन किया। दीनता से दण्डवत् हो गये। दूसरे अफसर साहब ने क्षमा-याचना कर ली। मैंने राजा सहाब को नम्रतापूर्वक लिख दिया कि मैं आपके कष्ट के लिए दुःखी हूं। कसूर की हाथ जोड़कर क्षमा मांगता हूं, सजा की नहीं। मेरे इस्तीफे की स्वीकृति स्थगित न रखी जाय। तुरन्त चार्ज देने की आज्ञा मिल गई। मुझे मालूम हो गया कि नौकरी का स्थायित्व वहां नलिनी-दल-गत-जल से भी अतिशय चपल था। मैं वहां अधिक ठहरा नहीं, अच्छा ही हुआ। 'बकरे की मां कब तक खैर मनाती'। उन राजा साहब का मैंने नमक-पानी खाया है उनकी बुराई नहीं करना चाहता। सच्चे खिलाड़ी की भांति वे मुझे क्षमा करेंगे।

मेरे मित्र मजकूर ने एक बार किसी से कहा था कि बाबूजी ने अपने सब संस्मरण लिखे, उक्त रियासत से निकाले जाने का नहीं लिखा। उन की प्रसन्नता के लिए अपनी अव्यवहारिकता के प्रमाण-स्वरूप इसे लिख दिया है। मेरे मित्र भी एक या दो रियासतों के निकाले हुए हैं। इसीलिए मैं उनसे मित्र-भाव रखता हूं। 'समान शीलव्यसनेषु मैत्री'।

मैं अपना समय दार्शनिक चिन्ता में तो नहीं खोता, किन्तु दार्शनिकों की-सी अव्यवस्था मेरे जीवन में अवश्य है। इसी कारण कभी-कभी दार्शनिक होने का गौरव प्राप्त कर लेता हूं। यद्यपि मैं उन दार्शनिकों में तो नहीं हूं, जो अपना ही नाम भूल जाते हैं, अथवा छड़ी को चारपाई पर सुला कर आप रात भर कोने में खड़े रहते हैं, किन्तु कमरे की सजावट और वस्तु-विन्यास में कार्लाइल द्वारा वर्णित प्रोफेसर ट्यूफेल्सड्रोक से प्रतिस्पर्द्धा अवश्य कर

सकता हूं। मेरे मित्र मिश्र-बन्धुगण पर यदि निर्णय का भार रक्खा जाय, तो वे मुझे दो या चार नम्बर कम देंगे और किसी आधुनिक प्रगतिशील आलोचक को यह काम सौंपा जाय, तो वह मुझे कम-से-कम 50 नम्बर अधिक देगा। वह कहेगा, आप इस युग में रहते हैं, वह प्रोफेसर दो वर्ष पहले रहता था। आपकी जांच वर्तमान मापदण्ड से होगी, इसीलिए वह मुझे अव्यवस्था में 100 के स्थान में 150 मार्क देने की कृपा करेगा। रहन-सहन की अव्यवस्था में अगर मैंने किसी से हार मानी है तो श्री 'निराला' जी से। हां कार्लाइल का वर्णन देखिए—

"It was strange apartment, full of books and tattered papers, and miscellaneous shreds of all conceivable substances united in a common element of dust. Books lay on tables and below tables; here fluttered a sheet of manuscript, there a torn handkerchief or night cap hastily thrown aside, ink bottles alternated with bread crusts, coffee pots, tobacco boxes, periodical literature and Blucher-Boot."

इसका अनुवाद में नहीं करना चाहता, किन्तु अंगरेजी न जानने वालों के हितार्थ टूटा-फूटा अनुवाद दे रहा हूं—

"वह एक अजीब कमरा था। उसमें बिखरी हुई किताबों और फटे कागजों तथा कल्पना में आ सकने वाली प्रायः सभी स्फुट वस्तुओं के टुकड़े धूल के एक ही मूल-तत्व से वेष्ठित रहते थे। पुस्तकें मेजों पर और मेजों के नीचे भी पड़ी रहती थीं। कहीं पुस्तकों की फटी हुई पाण्डुलिपियां फरफराती थीं और कहीं फटा हुआ रूमाल और जल्दी से उतारी हुई नाइट कैप पड़ी रहती थी। स्याही की बोतलें रोटी के टुकड़े, काफी पात्र, तम्वाकूदान, मासिक पत्र और बूट दर्शक का ध्यान विकल्प से आकर्षित करते थे।"

बाल्यकाल में तो अव्यवस्था क्षम्य ही नहीं होती, वरन् कभी-कभी माता-पिता के आमोद का भी कारण बन जाती है, किन्तु कालेज जीवन का विद्यार्थी रहन-सहन के लिए उत्तरदायी समझा जाता है। उस जीवन का भी मैं कोई सन्तोषजनक वर्णन नहीं दे सकता। बाल्य-काल की केवल एक घटना स्मरण है। मैं अपनी ननसाल, जलाली जिला अलीगढ, गया हुआ था। मेरी धोती नहीं मिल रही थी। मैं मैनपुरी की बोली में चारों ओर कहता फिरता था—"हमारी धुतिया किएं गई?" वहां के पश्चिमी लोगों ने मेरी अर्धपूर्वी बोली की बड़ी हंसी उड़ाई। उन लोगों ने मेरा नाम पुरबिया रख लिया था। मेरा पैत्रिक घर जलेसर है। (वहां के रहने वालों का सर जला नहीं होता) वह भी कुछ-कुछ पश्चिमी भाग में है। वहां के मेरे एक विनोद-प्रिय चचा साहब ने मेरी बोली सुन कर कह ही डाला—"देशी गधा पूर्वी रहंक।" तब से मैंने मातृ-भाषा अर्थात् ब्रज भाषा का, जो मेरी माता बोलती थीं, अभ्यास किया।

वह स्कूल में गंवारू समझी जाती थी। इसलिए खड़ी बोली का अभ्यास किया, जो पैत्रिक बोली थी। भाषा के सम्बन्ध में एक बात और याद है कि मेरे किसी गुरुजन ने मुझे 'हम' कहने पर बहुत डांटा था। उन्होंने कहा था, इसमें विनय का अभाव है। वह बात मैंने गांठ बांध ली। मैंने तो 'हम' कहना छोड़ दिया है, किन्तु एक महाशय, जिन्हें 'हम' के प्रयोग से मैंने कई बार टोका है, अभी तक उसका मोह नहीं छोड़ सके। शायद वे 'हम' से हिन्दू और मुस्लिम एकता का प्रतीक देखते हैं ('ह' से हिन्दू 'म' से मुसलमान) ईश्वर उन्हें सद्बुद्धि दे। विषयान्तर के लिए पुनः क्षमा-याचना!

वैश्य-बोर्डिंग हाउस में जब मैं पढ़ता था, तब भी मेरी अव्यवस्था कुछ-कुछ प्रोफेसर ट्यू फेल्सड्रोक के आदर्शों से मिलती थी। मुझे एक छोटी-सी कोठरी मिली थी। उसके लिए भी बड़ी सिफारिश की जरूरत पड़ी थी। मेरे पास ट्रंक के स्थान में एक चीड़ का बक्स था। जिस प्रकार बिना मरे स्वर्ग नहीं दिखाई पड़ता उसी प्रकार उन दिनों बिना प्रयाग गये अच्छा ट्रंक नहीं मिलता था। लोग ज्यादातर अण्डाकार टीन के डिब्बों से काम चलाते थे। (यह है सन् 1906 की बात, जब मैं एफ.ए. में पढ़ता था।)

उन दिनों मुझे विज्ञान से कुछ शौक हो गया था। मेरी धारणा थी कि पानी के नलों की ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि पानी ऊपर से गिरे और फिर अपने आप ऊपर उठ जाय। इस प्रकार सतत गति (Perpetual Motion) जिसे विज्ञान असम्भव मानता है, सम्भव हो सकता है। यह मेरी मूर्खता ही थी।

मैं कांच की नलिकाओं से, जिन्हें मैं अपने वैज्ञानिक सहपाठियों से मांग लेता था, और जिन्हें मैं दीप-शिखा पर (उस समय कडुये तेल के चिराग चलन से बाहर नहीं हुए थे। जैसे किसी विरले को भगवद्भक्ति प्राप्त होती है, वैसे ही किसी भाग्यवान के पास टेबिल लेम्प रहते थे) टेढ़ा कर मन चाहा आकार दे देता था, और उनके द्वारा अपने उल्टे-सीधे प्रयोग करता था। मेरे चीड़ के बक्स के एक पक्ष में ऐसी ही धूम्र-कलुषित नालिकाओं की भीड़-सी लगी रहती थी। उसके साथ कुछ गन्धक, फिटकिरी आदि द्रव्य भी पड़े रहते थे, जिसके आधार पर मैं आविष्कारक बनने का दुःस्वप्न देखा करता था। पीछे से उस बक्स का ढक्कन उससे असहयोग करने लगा था। अदवायन ढीली रहने के कारण (मैं नौकरों से किसी बात को डाटकर कहना नहीं जानता था) मेरी नतोदर (convex) बनी रहती थी, और मैं यह सन्तोष कर लेता था कि अगर सोते में मेरे ऊपर कोई लाठी चलाएगा, तो मेरे न लग कर पाटियों पर रुक जायगी। कमरे में दरी के फर्श के स्थान पर खजूर की चटाई थी। उसकी पट्टियां जीर्ण होकर कमरे के भिन्न-भिन्न भागों पर, विभाजित कुटुम्ब के सदस्यों की भांति, अपना-अपना स्वतंत्र अधिकार स्थापित करना चाहती थीं। मेज पर तैलाभिषिक्त ईंट रहती

थी, उस पर स्नेहाप्लावित ज्ञान का दीप जलता था। कोर्स की पुस्तक अलमारी से और बिना कोर्स की मेज पर से मेरा ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रतिस्पर्द्धा करती रहती थीं। 'ब्रुकमैन' नाम के कबाड़िए से खरीदी हुई जीर्ण-शीर्ण परन्तु महत्वपूर्ण कुछ पुस्तकें अलमारी में इस आशा से डटी पड़ी रहती थीं कि 'कबहुं तो दीन दयाल के भनक पड़ेगी कान।' यद्यपि मैं ब्रह्मचारियों की सी, फूस के झाड़ू जैसी, घी चोटी रखने वाले सिद्धांती महाशय-टाइप के विद्यार्थियों में से न था, जो देश छोड़कर सात-समन्दर-पार विलायत में वेदों का डंका बजाकर ही दम लेना चाहते थे, मुझ पर स्वदेशी का काफी प्रभाव था। खुदरंग पट्टू की अचकन पहनता था। उसके तन्तुओं के व्यक्त हो जाने को मैं भारत की गरीवी का प्रतीक समझता था। यही मेरी हालत थी, पीछे से कुछ सुधार हुआ। चीड़ के बक्स का उत्तराधिकार ट्रंक को मिला। पट्टू के स्थान में मिल का कपड़ा आया। लेकिन फिर भी वही बेढंगी रफ्तार रही।

मेरे कुछ मित्र जो मुझ पर स्नेह का अधिकार रखते थे, मेरी इस अव्यवस्था से नाराज रहते। बाबू जानकी प्रसाद सिंघल तो कन्धे से अछूते सीधे खड़े हुए बालों के कारण मुझे हाबूड़ा कह कर ही सन्तोष कर लेते थे। (हजामत के सम्बन्ध में मैं अब भी कुछ उदासीन हूं, नाई से बचना ही चाहता हूं। स्वयं शेव तभी करता हूं जब बाल इतने बढ़ जायं कि ब्रुश की जरूरत न रहे।) किन्तु बाबू जमुनाप्रसादजी ने, जो बहुत काल तक मथुरा म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन रहे हैं, मेरे सुधार का बीड़ा उठाया था। इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक घटना मुझे स्मरण है। उस समय मैं एम.ए. में पढ़ता था। प्रोफेसर भी हो गया था। मेरे एक मदरासी दार्शनिक गुरुभाई का (मेरे गुरुदेव इरिक्ड्रयू मदरास से ही आये थे), जो एम.ए. में फर्स्ट क्लास फर्स्ट थे, शायद मदरास यूनिवर्सिटी का रेकार्ड भी बीट किया था और आई.सी.एस. के लिए विलायत जाना चाहते थे, पत्र आया कि वे उत्तर भारत देखना चाहते हैं। मैं दिल्ली आकर मिलूं। जमुनाप्रसादजी, कमलाप्रसादजी, किशनलालजी आदि मेरे कई मित्र मेरे साथ गये। जमुनाप्रसादजी बड़े दुखित थे कि मैं एक ऐसे महान व्यक्ति से मिलने जा रहा हूं, जो आई.सी.एस. के लिए विलायत जाने वाला है, और जो सूट-बूट से अप-टू-डेट सैकिण्ड क्लास में आता होगा, और मेर पास लट्ठे का पाजामा, पुराना कोट और बेढंगी टोपी के सिवा और कुछ नहीं।

दिल्ली पहुंच उन्होंने यथाशक्ति मेरी टीम-टाम की। साग्रह नई टोपी खरीदवाई, कोट के नीचे एक कालर भी लगवाया और पूरी पार्टी के साथ मदरासी मित्र के स्वागत के लिए स्टेशन पहुंचे। उनकी ट्रेन लेट थी, प्रायः एक बजे तक रात प्लेटफार्म की बेंचों और वेटिंग-रूम की कोचों पर बिताई। ट्रेन की घण्टी होने पर एक-एक बार फिर लोगों ने अपने और मेरे

कपड़ों की झाड़-पोंछ की। कुली से पूछा, सैकिण्ड क्लास कहां खड़ा होता है? 'भ्रू परि पानि' हो शवरी की भांति उसकी प्रतीक्षा की। ट्रेन आई, सैकिण्ड क्लास वहीं खड़ा हुआ, जहां हम खड़े थे मेरे मित्र डिब्बे के द्वार पर खड़े थे उनका मुख और उनके केश कालिमा में कम्पटीशन कर रहे थे। बढ़े हुए बाल ऊपर को ऐसे खड़े थे मानों उनमें विद्युत्शक्ति का संचार हो गया हो। उनके बाल भालू के से रुक्ष, स्नेह-शून्य और कन्धे से अपरिचित थे। बदन पर एक मैली कमीज थी, जिस पर रेल के कोयले के कणों का गहरा स्तर उनके चेहरे की परछाईं सा मालूम होता था। उसके ऊपर तह किया हुआ उत्तरीय था। उनके चरण-सरोज 'उपानह की सामा' विहीन थे, कुछ-कुछ मलिनता के कारण दीन से प्रतीत हो रहे थे। उन्हें देखकर जमुनाप्रसादजी की आंते-पीतें जल गईं। मेरे मुंह पर प्रसन्नता की रेखा स्पष्ट हो गई। विजय-गर्व से मैं जमुनाप्रसादजी की ओर देखने लगा।

छतरपुर में पद के कारण कुछ व्यवस्था सुधरी थी, लेकिन बाहर के कमरे तक ही, पोशाक में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ था। भाग्य से मेरे महाराजा पोशाक की ज्यादा परवाह नहीं करते थे, किन्तु वे कभी-कभी मेरे शिकन पड़े हुए पाजामा का स्कैच स्लेट पर बना कर मेरा मजाक उड़ा लेते थे। अब अपना घर बन जाने के कारण कुछ व्यवस्था सुधरी है, उसका श्रेय मेरी देवीजी तथा मेरे सुपुत्रों को है। उनकी व्यवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न करना मेरा प्रिय व्यसन है। यहां भी दो-एक महाशयों ने मेरे सुधार का बीड़ा उठाया है। एक अधिक नफासत-पसंद महोदय मेरी कुरसियों की गद्दियों के सुधार के लिए सत्यागह करने लगे। वे गद्दी उठाकर दूसरी गद्दी पर रख देते थे। मैंने एक बार साबुन और तौलिया मांगकर उनसे हस्त प्रक्षालन का प्रस्ताव किया। वे समझे, मैं उनके लिए कुछ भोजन मंगा रहा हूं। मैंने कहा, शायद आपके हाथ गद्दी उठाने से खराब हो गये होंगे। वे समझ गये। इतने अकलमन्द थे जिनको इशारा काफी होता है। तबसे उन्होंने सत्याग्रह करना छोड़ दिया, और गद्दियों के आवरण भी मैंने बदल दिये। गिरहस्ती में प्रवेश करने के कारण घर के भीतर उनकी नफासत प्रियता बदर्जा मजबूरी कम हो गई है। एक दूसरे महाशय कहते हैं, कमरे में इतनी तस्वीरें क्यों लगा रक्खी हैं। मैं कहता हूं, उनका करूं क्या? बात तो उनकी ठीक है, लेकिन उसे कार्य-रूप में परिणत नहीं कर सका। अब तस्वीरें चिड़ियों के आक्रमण से टूट कर वाजिबी संख्या में रह गयी हैं फिर भी सीधी नहीं हैं।

मुझे फूलों, बगीचों और दूध देने वाले जानवरों का शौक है, किन्तु ये भी मेरे घर की अव्यवस्था ही बढ़ाते हैं। जब मेरी भैंस बगीचे में छूट कर गोभी के पेड़ों पर आक्रमण करने लगती है तब शिवजी के तबेले की सी रार मेरे य़हां भी मच जाती है। इधर अकल के साथ तुला में रक्खी जाने वाली दूध-देने वाली भैंस, उधर शोभा और उपयोगिता की समन्वयकारी

गोभी और टमाटर के पौधे। किसको मुख्यता दी जाय? इधर दुग्ध प्रेम उधर शाक-प्रेम। श्री जयशंकरप्रसादजी के नाटकों में भी ऐसा अन्तर्द्वन्द्व न उपस्थित हुआ होगा। इस वर्णन में बहुत अन्युक्ति तो नहीं, लेकिन किसी मेहमान को मेरे यहां ठहरने में कष्ट न होगा, यद्यपि मैं चाहता यही हूं कि मेरे मेहमान चिमगादड़ के मेहमान बने रह कर मेरी तरह उलटे लटके रहें।

भुलक्कड़ भी मैं अव्वल दर्जे का हूं, यद्यपि इतना नहीं कि चश्मा लगा कर चश्मे को ढूंढता फिरूं, अथवा स्टेशन जाते हुए ऐसा भान होने पर कि घड़ी घर भूल आया हूं, जेब से घड़ी निकालकर देखूं कि घर से घड़ी लाने का समय है या नहीं। एक-दो मर्तबा रिटर्न टिकट पूरा-का-पूरा टिकिट-कलक्टर को दे बैठा। मेरी बहुत सी आवश्यक वस्तुएं भी, जैसे बैंक की पासबुक, किताबों के एग्रीमेन्ट, हाई स्कूल और इण्टर के सार्टीफिकेट अन्तर्ध्यान हो जाते हैं किन्तु सौभाग्य से उनके बिना भी काम चल जाता है। एक बार अपनी देवीजी के साथ अलीगढ़ गया। दो टिकट खरीदे थे, एक टिकट कहीं गुम हो गया। बड़ी मुश्किल से दरपेश हुई। टिकट देवीजी को दे दिया, और असबाब कुली को। गेट पर बड़े अदब के साथ देवीजी से कहा—'टिकट दे दीजिए।' टिकट-कलक्टर महोदय पर यही प्रभाव पड़ा कि मैं उन्हें रिसीव करने आया हूं। बेचारा कुछ न बोला। उस समय प्रत्युत्पन्न मति से काम चल गया।

रोज प्रातःकाल मुझे प्रायः आध घण्टा पाठ्य तथा लेखन-सामग्री जुटाने में लग जाता है। दवात-कलम या कागज न होने के कारण बहुत से ब्राह्म-मुहूर्त अनुत्पादक रह जाते हैं। मैं उन डाक्टर महोदय से कुछ अच्छा हूं जो घर पर लेखन-सामग्री न होने के कारण एक चैक न भुना सके। फाउन्टेन पैन, छड़ी, छाता और टोपी खो जाना तो साधारण बात है, मैं ओवर कोट तक खो चुका हूं। यदि नहीं भूला हूं तो दो चीजें-एक अपने-को और दूसरा अपना चश्मा।

एक बार रात्रि में—निद्रित अवस्था में वैश्य बोर्डिंग-हाउस क़े समीप खड़े हुए सड़क कूटने के इंजन की लाल रोशनी देखकर मैंने कहा था कि ऐसा लगता है कि मानो राजामण्डी स्टेशन यहीं उठकर आ गया हो। 'मानो' शब्द को अनसुना कर मेरे मित्रों ने उसकी क्या-क्या बातें वना ली हैं और एक वकील साहब शायद बाबू प्रभुदयालजी जब गार्डन पार्टियों में मिलते हैं तब वे पूछ लेते हैं कि राजामण्डी स्टेशन को मैं भूल तो नहीं गया। वैश्य बोर्डिंग से सम्बन्धित होने के कारण मैं उस भ्रांति का भी आदर करता हूं।

मैं स्वयं बना हूं बनाया बहुत कम गया, क्योंकि मुझमें अधिक महत्वाकांक्षा नहीं। वे लोग अधिक बेवकूफ बनते हैं, जिनमें महत्वाकांक्षा की मात्रा कुछ अधिक होती है। मुझे

बेवकूफ होने का गर्व तो नहीं है, किन्तु उसकी लज्जा भी नहीं है, क्योंकि मैं धूर्त नहीं हूं। नेव (Knave) की अपेक्षा फूल (Fool) होना श्रेयस्कर है।

मैं अर्थ-लाभ के लिए दूसरे को बेवकूफ बनाना पाप समझता हूं। हां, शुद्ध विनोद के लिए किसी को मूर्ख बनाना बुरा नहीं। मेरे एक मित्र डाक के बहुत शौकीन थे, किन्तु डाक उनकी आती बहुत कम थी। डाकिए के दर्शन के लिये वे उत्कण्ठित रहते थे। एक रोज मैंने उनके डेस्क से उनकी सब संग्रहीत चिट्ठियां निकाल लीं और उनके बिना जाने लेटर-बॉक्स में डाल दीं। डाकिया उन चिट्ठियों का पुलिंदा लेकर उनके पास आया। वे उसे देखकर बड़े प्रसन्न हुए, किन्तु जब उन्होंने देखा कि वे बासी चिट्ठियां हैं, तो बड़े खिन्न और लज्जित हुए।

एक बार फर्स्ट एप्रिल को यह खबर उड़ाकर कि मैनपुरी के स्टेशन से डॉक्टर तृषार्तनाथसिंह, जो वहां बड़े लोकप्रिय रह चुके थे, पास हो रहे हैं, लोगों की भीड़ स्टेशन पर इकट्ठी कर दी। कोई गाड़ी लेकर पहुंचा और कोई तांगा। (मोटर का उन दिनों चलन न था) दो-एक महाशय तो डॉक्टर साहब के प्रिय भोज्य पदार्थ भी लेकर पहुंचे। उनके दो-एक पुराने प्रतिष्ठित मरीज उनसे डाक्टरी सलाह लेने पधारे। मुझे उन पर बड़ी दया आई। फिर मैं अपनी करतूत पर स्वयं ही लज्जित हुआ।

एक बार एक घड़ी की दुकान से यह नोटिस निकाल दिया कि पांच तारीख तक घड़ियां मुफ्त मिलेंगी। किन्तु हमारे यहां दो सौ घड़ियों का स्टाक है। आवेदन-पत्र शीघ्र भेजिए। पहली अप्रैल को ही दो सौ अर्जियां आ गईं। शर्त जानने के लिए उक्त कम्पनी के दफ्तर ने सबको एक-एक लिफाफे में छपा हुआ 'फूल' दे दिया। इस प्रकार मैंने इस विश्वव्यापी सम्प्रदाय की सदस्यता निभाई।

*****

एक स्केच

मेरे एक शिकारपुरी मित्र

अंग्रेजी में एक कहावत है कि मनुष्य अपने मित्रों से जाना जाता है। इसके अनुसार पाठकगण चाहें, तो मुझे भी अपने मित्र के समकक्ष रख लें, किंतु मैं उनकी मित्रता स्वीकार करने में लज्जित नहीं हूंगा।

नवागंतुकों की साधारणतया चर्चा हुआ ही करती है, किंतु जब मेरे शिकारपुरी मित्र ने वैश्य बोर्डिंग हाउस में पदार्पण किया, तब सुपरिंटेंडेंट (तब तक 'वार्डन' शब्द जेल वालों से चुराया नहीं गया था) से लेकर मेहतर तक उनकी चर्चा करता था। अपने प्रिय मित्र का नाम नहीं बतलाऊंगा। इसलिए नहीं कि बदनाम होंगे, वरन् इतने सज्जन, सुशील और सुयोग्य हैं कि बाइबिल के शब्दों में मैं उनके जूते के तस्मे भी खोलने के योग्य नहीं और उनका पवित्र नाम एक लक्ष गायत्री मंत्र के जप द्वारा जिव्हा को पवित्र किये बिना नहीं लिया जा सकता।

'गुरबा कुश्तन रोजे अव्वल' (बिल्ली को पहले दिन ही मार देना चाहिए, जिससे वह पीछे से उपद्रव न कर सके)। उन्होंने पहले ही दिन सुपरिंटेंडेंट पर रौब गांठ दिया। सुपरिंटेंडेंट महोदय ने उनका निवास-स्थान पूछा। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाले सिद्धांत के उपासक 'देश-कालानवच्छिन्न' आत्मा वाले मेरे मित्र को यह बात ऐसी अरुचिकर प्रतीत हुई, जैसे महात्मा सूरदास को 'हरि-विमुखन को संग'। वे फौरन कह उठे-'नाम लिख लिया, काफी है। शहर से क्या मतलब? लियाकत देखिए साहब! आपको आम खाने से काम या पेड़ गिनने से? आप पढ़े-लिखे आदमी हैं, व्यर्थ की सुनी-सुनाई बातों के चक्कर में न पड़िये।'

जर्जर ऋषियों के से उनके दुबले-पतले शरीर में चेहरे का प्रत्येक अवयव अपने शुभ अस्तित्व की घोषणा-सी करता प्रतीत होता था। उनकी रजत-मेखला-विभूषित कटि सिंहनी भिड़ (बर्र) की कटि को लज्जित करती थी। उसी खिसियानेपन के कारण सिंहनी मनुष्य-मात्र से बैर करने लग गई है, और भिड़ जहां-तहां लोगों को काटती फिरती है। उनके परस्पर स्पर्धाशील नेत्र-युग्मों की कज्जल-कला छिपती थी। उनकी 'भुंइ' में लोटने वाली नहीं, किंतु

कमर को बिना प्रयास स्पर्श करने वाली, काली, मोटी, उंछी-गुंछी, गोरस और दधि से धुली, स्वच्छ, मेचक, मसृण, नागिन-सी चोटी सबके आकर्षण का विषय थी। उसे पाकर सूर के बालकृष्ण भी 'मैया! कबहिं बढ़ेगी चोटी, कितीबार मोहि दूध पिवत भई, यह अजहूं है छोटी।' वाली चिंता भूल जाते।

प्राचीन हिंदू-संस्कृति उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी, किंतु वे सूट-बूट बिल्कुल अप-टू-डेट पहनते थे। अपने दुग्ध-फेन-सम धवल, स्टिफ कालर कफों पर उन्हें गर्व था। के.वी. कंपनी-निर्मित अपने डर्बी शू की वे स्वयं ही भूरि-भूरि प्रशंसा किये बिना नहीं रहते थे। उसका पोलिश किया हुआ चमड़ा दर्पण का काम देता था।

जिस समय आप वैश्य बोर्डिंग-हाउस में स्थित मेंडू महाराज के स्मारक-स्वरूप शिव मंदिर के चबूतरे पर ध्यानावस्थित होते थे उनके चाकरदेव वृक्षों की पत्तियों से छन कर आने वाली भगवान अंशुमाली की किरणों का छाते द्वारा निवारण करते रहते थे। मुझे उस समय भर्तृहरिशतक में वर्णित एक नायिका की याद आ जाती थी, जो शशिकिरणों से भी अपने को बचाती थी--

"विश्रम्य विश्रम्य बनद्रुमाणां छायासु तन्वी विचचार काचित्;
स्तनोत्तरीयेण करोद्धृतेन निवारयन्ती- शशिनो मयूखान।"

उस समय वे तपोलीन, छत्रधारी, चक्रवर्ती राजा से लगते थे। वे धार्मिक अवश्य थे, किंतु उनमें कट्टरता छू तक नहीं गई थी। उनकी व्यावहारिक बुद्धि बड़ी प्रखर थी। जरूरत पड़ने पर वें पंचपात्र में खरिया घोल कर यज्ञोपवीत से अपने 'केन्वस' शू को दुग्धफेन तुषार हार तथा कर्पूर-कुंदेंदु-सम धवल बना लेते थे।

अपनी लियाकत पर मेरे मित्र को नाज़ था। और, थे भी लियाक़त में यकताँ। प्रिंसिपल जोन्स उनके शुद्ध अंग्रेजी लिखने पर फिदा थे। संस्कृत में उनको 75 फीसदी से कम नंबर नहीं मिलते थे। उर्दू की इबारत आराई में बड़े-बड़े मौलवी उनसे हार मानते थे। उनके वीणा विनिन्दित कंठ ने उनके रूप-माधुर्य की कमी को पूरा कर दिया था। जिस समय वे वृहत् 'स्तोत्र-रत्नाकर' के श्लोकों का पाठ करते थे, बोर्डिंग हाउस में स्तब्धता का साम्राज्य हो जाता था। क्षीर-शायी विष्णु-भगवान की श्वास से जिस प्रकार वेद निकलते हैं, उसी प्रकार उनके मुख से अनुप्रासमयी भाषा निःसृत होती थी। Apt alleteration's artful aid उनके पीछे कुतिया की भांति उनका पदानुसरण करती थी। इस संवंध में महाकवि भवभूति की भांति उनके विषय में भी सगर्व कहा जा सकता है-वाग्वश्ये बानुवर्तते'। मेस के नोटिस भी अनुप्रासमयी भाषा में लिखे जाते थे-"Purveyor presses provokingly. Please pay promptly." एक बार उन्होंने फीरोजाबाद के कुछ लड़कों को छकाने के लिए अनुप्रास

की एक लड़ी बात-की बात में जोड़ दी। शेक्सपियर और कालिदास भी शायद अनुप्रासों की वैसी छटा न दिखा सकेंगे–

Four free, frivolous, forward fortune-favoured fools from Firozabad factory fined four farthings for frequently flying from football field for five fortnights."

इतनी लियाकत रखते हुए भी वे मेरी ही तरह इम्तहान पास करने में जल्दी नहीं करते थे। जल्दी का काम शैतान का होता है। वे 'शनैःविद्या च वित्तं च में विश्वास करते थे। किंतु लियाकत की कमी के कारण फेल नहीं होते थे। कालिज से संबंध बनाये रखने के लिये देवता लोग उनकी सहायता करते रहते थे। उस जमाने में आजकल की-सी क्षुद्र भेद-बुद्धि न थी। स्कूल और कालिज के साथ-साथ इम्तहान होते थे। एफ.ए. में मेरे मित्र के रौल-नम्बर का ऐंट्रेंस का परीक्षार्थी अनुपस्थित था। 'अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्' के न्याय से उसी सीट पर जा डटे। पर्चा आया, उसे 'अनसीन' (Unseen) का पेपर समझ कर हल करने लगे। मन में सोचा, पत्रों के क्रम की गारंटी नहीं होती। फिर भी उनके मुख मंडल पर असमंजस की रेखाएं स्पष्ट थीं। उनको देखकर एक सहृदय निरीक्षक ने पूछा कि 'आप किस परीक्षा में बैठकर उसे गौरव दे रहे हैं। जब उनको बतलाया गया कि वही रौल नंबर हाई स्कूल का भी हो सकता है, तब एक घंटे पश्चात् उन पर रहस्य खुला कि यह सीट उनकी नहीं। इंग्लिश-हिस्ट्री ली थी किंतु लियाकत के जोश में रोमन-हिस्ट्री का पर्चा करने आये। बी.ए. में एक पर्चे में दो कापियां ली थीं। एक कापी मेज पर छोड़ी, और दूसरी पर्चे और ब्लाटिंग में लपेटकर बोर्डिंग ले आये। उनके उत्तरों को देखकर हम लोग दंग रह गये थे।'

मेरे मित्र की सभी बातें निराली थी। उल्टी भाषा बोलने का उन्हें अनुपम अभ्यास था। संस्कृत के श्लोक-के-श्लोक उल्टी भाषा में पढ़ते चले जाते थे। "मृषा वदति लोकोऽयं ताम्बूलं मुखभूषणम्, मुखस्य भूषणं पुंसा स्यादेकैव सरस्वती', इसका पाठ वे पढ़ते थे–'रिमषा दवति कोलीयं, मातूलं खुंषूभणं। खुमस्य षूभणं सुंपां, द्यासेकैव रसस्वती'। मोनीटर होकर वे हाजिरी भी उल्टी ही लेते। माधुरीप्रसाद का धामुरी प्रसाद, गोविंदराम का वोगिंदमार, राधारमन का धारामरन कर देते थे। वैभव-प्रदर्शन में वे किसी प्रकार कमी नहीं छोड़ते थे। लियाकत का रौब तो वे पद-पद पर जमाते थे। कभी-कभी धन का वैभव भी दिखला देते थे। घर से लाये हुए नोटों और गिन्नियों को मेज पर प्रदर्शनार्थ पड़ा रहने देते थे। एक बार प्रिंसिपल महोदय का इंसपेक्शन हुआ। उन्होंने उनके स्वागत के लिए गिन्नियों का 'वेलकम' बनाया।

अगर उनमें कमी थी तो एक बात की। वह यह कि अपनी उदार-वृत्ति के कारण वे अपने गांव का नाम बतलाने में संकोच करते थे। एक बार बोर्डिंग हाउस के लड़कों ने

अपने-अपने ट्रंकों पर अपने नाम लिखाये और नाम के साथ-साथ अपने स्थान का भी नाम लिखाया। बार-बार कहने, बड़ी दीनता के साथ अनुनय विनय करने तथा मुफ्त लिखाने के क्षुद्रतम, परंतु मुझ जैसे गरीब लड़के द्वारा दिये जाने के कारण महत्तम प्रलोभन देने पर भी उन्होंने शिकारपुर लिखाने का साहस नहीं किया। डिस्ट्रिक्ट बुलंदशहर लिखकर उन्होंने शहर का नाम लोगों में अनुमान बुद्धि के सरल एवं स्वास्थ्यकर व्यायाम के लिए छोड़ दिया। वे एक उच्च पद से अवकाश ग्रहण कर लखनऊ में विश्राम कर रहे हैं। वैश्य-बोर्डिंग हाउस के वे सुखमय दिवस अब नहीं लौट सकते, यद्यपि मैं भी हूं और वैश्य-बोर्डिंग हाउस भी।

*****

शैल शिखिर पर

मेरी कसौली यात्रा

यद्यपि मेरे लिए छुट्टी और काम के दिनों में विशेष अंतर नहीं है–"न सावन सूखा न भादौं हरा" तथापि जव वच्चों की छुट्टी होती है तव मैं भी अपनी छुट्टी मान लेता हूं, और साल भर काम में व्यग्र रहे विना भी वड़े गर्व और गौरव के साथ छुट्टी मनाने आगरे से बाहर चला जाता हूं। कथा नहीं सुनता तो कथा का प्रसाद अवश्य ले लेता हूं। आगरा रहकर करूं भी क्या? उन दिनों वहां विद्यार्थियों तथा शिक्षकों का, जिनके संपर्क में मैं रहा करता हूं, ऐसा अत्यंताभाव हो जाता है जैसे गधे के सिर से सींग का। ड्रमंड रोड पर एकदम वैधव्य सा छा जाता है।

जो लोग किसी रमणीय या दर्शनीय स्थान में अपनी छुट्टी विताने की आर्थिक सुविधा नहीं रखते वे वेचारे अपने घर चले जाया करते हैं। उन्ही लोगों में से मैं हूं। यद्यपि मेरा घर तो आगरे के पास ही है, और मुझे कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, तथापि छुट्टियों के लिए मेरा घर फरीदकोट[1] हो जाता है क्योंकि वहीं मेरे पिताजी रहते हैं। 'तहां अवध जहं राम निवासू।'

कुछ दिन फरीदकोट रहा। पूर्ण परिवार के साथ रहने का आनंद उठाया। यद्यपि गर्मी वहां आगरे से कम न थी, और धूप ऐसे कड़ाके की पड़ती थी कि 'छांहौ चाहति छांह' की वात चरितार्थ हो जाती थी, तथापि सब लोग एक कमरे में, ('अहि-मयूर' 'मृग-वाघ' की भांति नहीं, लड़ाई के समय में दुर्गस्थ लोगों की भांति, विद्युत-व्यजन की संरक्षता में समय विता देते थे। रात्रि में खुली छतों के ऊपर तारक-विखचित गगन-वितान के नीचे सोने को मिलता था। फरीदकोट में पानी की टोट कारण सूए (वम्वे) में प्रातः सायं भैंसों की भांति लोट-पोट होने चला जाया करता था। दिन सुख से वीत रहे थे। किंतु लोभ बुरा होता है। अध्ययन का लोभ मुझे लाहौर घसीट ले गया, विशेषकर ऐसे समय में, जब वहां गर्मी ने

---

1. मेरे भाई वावू रामचन्द्र गुप्त उस समय वहाँ डेपूटेशन पर थे।

उग्र रूप धारण कर रखा था। आगरे को लोग बहुत गरम बतलाते है, और है भी, परंतु उन दिनों आगरे और लाहौर की गर्मी में चूल्हे और भाड़ का-सा अंतर प्रतीत होता था। बंद कमरे में पंखे के नीचे भी अनलमय अनिल का सामना करना पड़ता था। इस गरम हवा के आगे बिहारी की विरहिणी नायिका को उच्छ्वास या जायसी कीं नागमती की विरह के अक्षरों से दग्ध पाती भी शीतल मालूम होगी। पंखे से हटकर बैठने में स्वेद-सलिल की सरिता में निमग्न होना पड़ता था। इस गर्मी के आगे अध्ययन की सरगर्मी को सर झुकाना पड़ा। मैं चार रोज रह कर भागने वाला ही था कि बैठे-ठाले एक आफत और सर लग गई।[1] "एकस्य दुःखस्य न यावदंतं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्या तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुली भवंति।" 'गरीबी में आटा गीला।'

पांच जुलाई की सायंकाल को पशु-पक्षियों की भांति मैं भी अपने निवास-स्थान को लौट रहा था। गर्मी के कारण गति भी मंद न थी। दार्शनिक और तार्किक होता हुआ भी 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्' के चक्कर में विचार-मग्न भी न था। खूब सतर्क था, तो भी न जाने कहां से दो श्वानदेव (मालूम नहीं कैसे थे—पागल अथवा स्वस्थ क्योंकि केवल पागल ही नहीं लड़ा करते, बुद्धिमान मनुष्य भी लड़ा करते हैं) आपस में मल्ल-युद्ध करते और रौद्र-रस के अनुभावों का पूर्ण प्रदर्शन करते हुए विद्युतगति से मेरी टांगों के पीछे आ गये। मैं पीछे देखने भी न पाया था कि उनके नख मेरी टांग में लग गये। मेरे शांतिमय स्पर्श से स्वान-मल्लों का विरोध शांत हो गया। इसका मुझे गर्व है। मल्लों ने हार जीत बराबर मान अपने-अपने घर की राह ली। किंतु मेरे पीछे एक बला.लग गई। इसी को कहते हैं कि आपत्ति कोई मोल लेने नहीं जाता।

न्याय-शास्त्र के कर्ता महर्षि गौतम एक बार कुछ सोचते हुए चले जाते थे। बेचारे आगे न देख सके और कुंए में गिर पड़े। भगवान ने दया करके उनके पैरों में आंखें दे दी, तभी से उनका नाम अक्षपाद पड़ा। यदि भगवान ने उस समय सारी मनुष्य-जाति के ये कम-से-कम अक्षपाद प्रभु के तार्किक अनुयायियों के पैरों में नेत्र दे दिये होते तो शायद मैं इस आपत्ति से बच जाता। नायक-नायिकाओं ने नख-क्षतों का वर्णन साहित्य में पढ़ा था। यद्यपि उसमें भी थोड़ा पागलपन रहता होगा, तथापि उसके कारण किसी को कमरे से बाहर नहीं जाना पड़ता था। इन श्वान महोदयों के नख-क्षत के कारण चौदह बार सूचिका-वेध (Injection) के प्रायश्चित की, बात-की-बात में, डाक्टर ने व्यवस्था दे दी। जिस प्रकार स्पर्शमात्र से मनुष्य कलंकित हो जाता है उसी प्रकार कुत्ते के काटे हुए व्यक्तियों की गणना में मैं भी आ गया।

---

1. समुद्र के पार तरह जब तक एक दुःख के अन्त तक नहीं पहुँचा था कि दूसरा उपस्थित हो गया। जहाँ कोई कमी होती है, वहाँ अनर्थ अधिक होते हैं।

न्यायालयों में जब तक अभियुक्त पर जुर्म साबित न हो जाय, तब तक वह निर्दोष समझा जाता है, किंतु चिकित्सालयों में कुत्ता जब तक गैर-पागल प्रमाणित न हो जाय, तब तक पागल ही माना जाता है। अपागल प्रमाणित करने की केवल एक विधि है— कुत्ते को बांधकर रक्खा जाय। यदि वह दस दिन तक न मरे, तो स्वस्थ है, अर्थात् पागल नहीं है। और यदि दस दिन के भीतर मर जाय तो पागल। दस दिन की राह देखने में देरी हो जाने की आशंका से डाक्टर लोग इंजेक्शन फौरन ही शुरू कर देते हैं। यदि कुत्ता दस दिन न मरा, तो इंजेक्शन बंद कर देते हैं। कुत्ते का पता यदि निश्चित रूप से लग जाय तो उसको कम-से-कम दस दिन तक जीवित रखने के लिए भगवान मृत्युंजय की आराधना करनी पड़ती है। पागल कुत्ते के मस्तिष्क की भी अनुवीक्षण यंत्र (Microscope) द्वारा परीक्षा की जाती है। यदि भावात्मक फल आया, तब तो निश्चय हो जाता है कि कुत्ता पागल था, किंतु यदि उसके दिमाग में पागलपन के चिह्न न मिले, तो यह निश्चय नहीं होता कि कुत्ता पागल नहीं था। इसलिए दस रोज तक कुत्ते को मेहमान बनाकर उसकी प्रतीक्षा करना ही श्रेयस्कर है। हंसी की दूसरी बात है, पर आशंका मात्र पर भी इंजेक्शन लेना परम आवश्यक है। यदि एक बटा दस प्रतिशत भी आशंका हो तो जान खतरे में न डालनी चाहिए। जान तो वैसे भी खतरे में रहती है किंतु जानबूझ कर मौत की राह में जाना ठीक नहीं। शरीर में यदि ज़रा भी जहर प्रवेश कर जाय और मनुष्य को हाईड्रोफोबिया अर्थात् जल विक्षेप्तता (इस बीमारी वाला जल से डरता है। प्यास होते हुए भी यूनानी वीर टेन्टेलस की भांति पानी नहीं पी सकता) हो तो वास्तव में कुत्ते की मौत मरना पड़ता है। यह रोग असाध्य हो जाता है। वह मुनष्य भी कुत्ते की तरह काटने को दौड़ता है। यदि उस मनुष्य की लार किसी को लग जाय तो उसे भी इंजेक्शन लेना आवश्यक हो जाता है। कुत्ते के दांत-स्पर्श होते ही, तुरंत अस्पताल में जाकर, क्षत को नश्तर से खुरचवा कर कास्टिक लगवा लेना चाहिए। इस क्रिया को 'कोटेराइज' करना कहते हैं।

'शुभस्य शीघ्रम' न्याय से डाक्टरों ने लाहौर में ही इंजेक्शन देना आरंभ कर दिया। दो इंजेक्शनों में ही भूगोल का पढ़ा हुआ सत्य प्रमाणित होने लगा कि पृथ्वी घूमती है। यद्यपि इस टीके का बेक्शीन अब आगरे, लखनऊ, दिल्ली आदि स्थानों के अस्पताल में रहता है और जिस प्रकार सब स्थानों का गंगाजल पवित्र और मोक्षप्रद होता है, उसी प्रकार सभी स्थानों में इस टीके से पूर्ण लाभ होता है, तथापि जिस प्रकार हरिद्वार का कुछ और ही महत्व है, उसी प्रकार कसौली की भी विशेषता है। यदि दुर्भाग्य से किसी को गर्मी के दिनों में कुत्ता काटे और उसे आर्थिक असुविधा न हो, तो अवश्य कसौली जाय। यहां की जलवायु सुंदर है। यहां पर आतप की व्यथा कम व्यापती है।

मैंने भी फरीदकोट जाकर किसी प्रकार मांग-जांच कर गर्म कपड़े जुटाये और कसौली की राह ली। मैंने सोचा कुत्ते ने काटा तो काटा कसौली की सैर तो हो ही जाएगी। साहब लोगों की भांति गर्मियों में शैल-शिखर वास कर लूंगा। "बधिया मरी तो मरी, आगरा तो देखा।" यहां पर आतप की भीषण ताप से बच जाऊंगा और चतुर्दश (मुझे तो द्वादश ही लगे, क्योंकि दो लाहौर में लग चुके थे।) सूचिका-वेध द्वारा पूर्व जन्म के पाप (मैं यह नहीं कहता कि इस जन्म में मैंने पाप नहीं किये) का प्रायश्चित हो जाएगा। 'गोरस-बेचन, हरि-मिलन, एक पंथ दो काज' की बात चरितार्थ होगी। अस्तु, भटिंडा और राजपुरा बदलता हुआ अंबाला पहुंचा। वहां कुछ वर्षा भी हो चुकी थी। दूसरे वातावरण में प्रवेश हुआ। गाड़ी में कुछ नींद भी आई। कालका से दो-एक स्टेशन पूर्व आंख खुली।

गाड़ी की लड़खड़ाती हुई चाल से प्रतीत हो गया कि हम लोग पर्वतीय प्रदेश में प्रवेश कर रहे हैं। गाड़ी में दो इंजिन थे, तब भी वह नौ दिन में अढ़ाई कोस की चाल चल रही थी। ईषद्विच्छिन्न मेघावली में अरुणोदय बड़ा सुहावना लगता था। गंभीर नीलिमा में स्वर्ण-रजतमय प्रकाश की रेखाएं अपूर्व शोभा दे रही थीं। शीतल वायु के स्पर्श ने शरीर में एक अपूर्व स्फूर्ति उत्पन्न कर दी। अकारण हंसी आने लगी—लाहौर में तो हंसाने पर भी हंसी न आती थी। गर्म बास्कट धारण की, स्टेशन पर पहुंचा, कुलियों ने असबाब उतारा, और मैं प्लेटफार्म पर खड़ा हो गया।

मुझे शास्त्रीय ज्ञान तो था, अनुभवीय ज्ञान न था। धरमपुर का टिकट ले चुका था, क्योंकि रेलवे के टाइमटेबल में कसौली के लिए मोटरें सस्ती मिल जाती हैं। 'पासच्युर इन्स्टीट्यूट' की एक छोटी लारी भी नित्य आती-जाती है। सड़क के रास्ते कालका से कसौली केवल 22 मील है और रेल के रास्ते करीब 28 मील पड़ता है। वर्षा के समय रेल में कुछ सुविधा रहती है। खैर मैं धरमपुर पहुंचा। यहां के स्टेशन का वातावरण शांत है। पहाड़ी स्टेशनों का वातावरण प्रायः ऐसा ही होता है। वर्षा हो ही रही थी। मोटर मिलने में कुछ कठिनाई अवश्य हुई, किंतु सकुशल कसौली आ गया।

पासच्युर इंस्टीट्यूट गरीबों के लिए मुफ्त ठहरने का स्थान है, और अमीरों के लिए आठ आना रोजपर अच्छे क्वार्टर मिल जाते हैं। विक्टोरिया होटल भी अच्छा है। गरीबों के क्वार्टर तो जैसे मुफ्त के क्वार्टर होते हैं, वैसे ही होते हैं, किंतु यहां गरीबों के लिए कंबल और बर्तन भी मिलते हैं, खाने के लिए बालिग आदमी को छः आने रोज और बच्चे को तीन आने रोज मिलते हैं। मुझे तो छोटे भाई के पुण्यप्रताप से क्लब के पास एक अच्छा स्थान मिल गया था। मैं कोठी के मालिक के लिए हृदय से अनुगृहीत हूं। हां, वह स्थान बड़ी ऊंचाई पर था। चढ़ते-चढ़ते राम याद आते थे। कबीरदास की ऊंचाई का आदर्श तो

लंबी खजूर ही है। (आखिर मुसलमानी संस्कार कहां जाते?) वे तो साईं का घर भी लंबी खजूर की ही बराबर दूर बतलाते हैं, लेकिन मैं जहां ठहरा था, वह स्थान बहुत ऊंचा था। खजूर से ऊंचे तो यहां के चीड़ के दरख्त होते हैं। (कसौली को समुद्र की सतह से 5000 फीट ऊंचा बतलाते हैं। मुझे 5000 फीट नहीं चढ़ना पड़ा।) मेघ भी पर्वत-शृगों के आगे ऊंचे नहीं मालूम होते।

यहां वर्षा नित्य होती है। बिना छाता बरसाती के काम नहीं चलता। तभी तो कालिदास का यक्ष मेघ की आर्द्रता (दयार्द्रता) का अनुभव कर उसको अपनी विरह-गाथा सुनाकर अपनी प्रियतमा के लिए संदेश-वाहक बनाना चाहता था। जो अपने निकट होता है, उसी से बात की जाती है।

कसौली कुत्ते के काटे वालों के लिए तो प्रधान तीर्थ-स्थल है ही, किंतु यहां जो लोग रहते हैं, वे सब कुत्त के काटे हुए ही नहीं रहते। यहां पर एक बहुत सुंदर छावनी है। यहां की सड़कें रमणीक हैं। चढ़ाव-उतार की और चक्करदार अवश्य हैं, किंतु उनके दोनों ओर खूब हरियाली रहती है। कुछ स्वाभाविक उपज है और कुछ लगाई हुई है। बाजार भी अच्छा है। यहां पर गिरजाघर, क्लबघर, बैंक, डेरी आदि देखने योग्य है। मंकीपाइंट अर्थात् वानरशृंग यहां का उच्चतम शिखर है। जाड़ों में खूब बरफ पड़ती है और आबादी कम हो जाती है।

कसौली का कुत्ते का अस्पताल (नहीं-नहीं कुत्ते के काटे हुए मुझ जैसे आदमियों का अस्पताल) पासच्युर इंस्टीट्यूट बहुत बड़ी संस्था है। पासच्युर एक फ्रांसीसी डाक्टर का नाम है, जिन्होंने पहले-पहल इस प्रकार के इलाज की ईजाद की थी। उन्हीं के नाम पर इस संस्था का नाम पड़ा है। यहां पर करीब 70 या 80 आदमी काम करते हैं। इंजेक्शन देने के लिए भी कई डाक्टर रहते हैं। जख्मों के ड्रेसिंग का अलग प्रबंध है। नखों और दांतों के क्षतों की गहराई और संख्या के हिसाब से रोगियों की चार कक्षाएं हो जाती हैं। चौथे वर्ग के लोगों के इंजेक्शन लगना शुरू होता है और नंबरबार इंजेक्शन लगते जाते हैं। जब से इंजेक्शन का सामान तैयार होकर बाहर जाने लगा है, तब से यहां रोगियों की संख्या घट गई है। करीब बीस और तीस के बीच में हाजिरी रहती है।

इस इंस्टीट्यूट में इंजेक्शन लगाने के अतिरिक्त वेक्सीन और सीरम भी तैयार किये जाते हैं। इसके लिए यहां पर बहुत से खरगोश और भेड़ें भी रहती हैं। तैयार किए हुए वेक्सीन और सीरम की बंदरों पर परीक्षा होती है।

इस इंस्टीट्यूट के अतिरिक्त यहां पर एक सेन्ट्रल रिसर्च इन्स्टीट्यूट अर्थात् केंद्रीय गवेषणा-संस्था भी है। यहां पर सांप के काटे, प्लेग, कालरा आदि के इंजेक्शनों का सामान तैयार किया जाता है। यह संस्था पासच्युर इन्स्टीट्यूट से भी अधिक महत्व की है। किंतु

लोग इसे कम जानते हैं। यहां से सहस्रों रुपये का वेक्सीन भारत भर में जाता है। इस संस्था में एक घोड़े की तस्वीर है जिसके द्वारा 10,000 रुपये का सांप के काटे का सीरम तैयार बनाकर बाहर भेजा गया है। इस सीरम को ऐंटीवेनम अर्थात जहरमोरा कहते हैं।

यहां के केन्टूनमेंट मजिस्ट्रेट मेरे मित्र निकले, उन्हीं की कृपा से यह सब देखने को मिला। दुनिया बहुत बड़ी नहीं है, हर जगह कुछ न कुछ जान-पहचान निकल आती है। बारह दिन कसौली रहकर खूब सैर की। अकेले रहकर स्वावलंबन का पाठ पढ़ा।[1] यद्यपि उस कोठी का मुसलमान बैरा मेरी बहुत मदद करता था तथापि थोड़ा बहुत खाना मैं स्वयं बनाता था। एक वक्त एक होटल में खाता था। सबसे अच्छी बात यह थी कि कुछ दिन के लिए पुस्तकों से छुट्टी मिल गई। बाजार में हिंदी की पुस्तकों का अभाव था। अंग्रेजी के दो उपन्यास पढ़े और यह लेख लिखा। कसौली यात्रा का इतना ही साहित्यिक महत्व था।

*****

---

1. यह दूसरा अवसर है कि मुझे कुत्ते काटे की आशंका में इन्जेक्शन लेने पड़े। यह घटना 1933 के करीब की है। पहली बार (सन् संवत् अनुसन्धान का विषय है किन्तु इतना याद है कि मैंने छतरपुर से अवकाश ग्रहण किया था, शायद सन् 1927 की बात हो।) मुझे इन्जेक्शन लगवाने जबलपुर जाना पड़ा था। तब भी आशंका ही थी। किन्तु इस आशंका के कारण परम दुर्लभ छुट्टी मिल गई थी। महाराजा साहब अंग्रेज एजेन्सी सर्जन की सलाह और सिफारिश को टाल नहीं सकते थे।
इस बार मैं अकेला नहीं गया था। मेरे साथ मेरे साहित्यिक सहायक पण्डित (मैं उनको मास्टर कहा करता था) नारायणराव ककरे गये थे और वहाँ सेठ गोविन्ददास के सम्पन्न आतिथ्य का सुयोग मिला था। हम लोग बिना किसी पूर्व सूचना के सुबह 6 बजे पहुँचे। गर्मी के दिन होते हुए भी भले आदमियों विशेषकर रईसों के लिए वह समय कुछ सबेरे का ही था। फाटक बन्द थे। दरवान दरवाजे पर था। उसने बड़ी सतर्कता से पूछा कि आप लोग कहाँ से आये हैं और क्या काम है? उस बेचारे का भी दोष न था। निजी काम से जाने के कारण हम लोगों की वेश भूषा साधारण सी थी और लम्बे सफर ने उसकी अस्त-व्यस्तता को और भी उतार दिया था। भगवान कृष्ण के द्वारपाल ने जितनी आना-कानी सुदामा की सूचना देने में की होगी, उससे कुछ ही कम आना-कानी सेठजी के दरवान ने की। जबलपुर में हम किसी और को नहीं जानते थे जहाँ चले जाते और ताँगे वाले को भी विदा कर चुके थे। नाम गाम धाम बताने के बाद उसने मुझसे मेरा नाम पूछा। उत्तर में मैंने कहा सेठजी से मिलना है। उसकी शंका और भी बढ़ गई। उसने कहा बिना काम बताए वह इत्तला के लिए नहीं जायगा। मैंने कहा—'पागल कुत्ते ने काटा है' उसने इसे मजाक या झूँझल समझा और उसने हमें पागल ही समझा, फिर बहुत स्पष्टीकरण करने पर कि हम पागल नहीं हैं, पागल कुत्ते ने काटा है और हम इलाज कराने आये हैं और सेठजी के पास ठहरेंगे, वह इत्तला करने को राजी हुआ। 10 या 15 मिनट में सेठजी भगवान कृष्ण की भाँति ऊपर से नीचे आये और बड़े विनयपूर्ण सौजन्य के साथ मुझे ऊपर लिवा गये और बादल महल नाम के विशाल कक्ष में ठहराया।

ठोक-पीट कर लेखक (राज़-1)

मैं लेखक कैसे बना?

शास्त्रों में कहा गया है कि 'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते'। वे संस्कार क्या थे जिनसे मैंने लेखक रूपी द्विजत्व प्राप्त किया। मैंने आठवें दर्जे तक फारसी पढ़ी। नवें दर्जे में जब फारसी के साथ अरबी पढ़ने का सवाल आया तब मैंने सोचा कि मुल्ला बनने से पंडित बनना अच्छा है। हिंदी का ज्ञान अक्षर-बोध से कुछ अधिक था। ध्रुवलीला और प्रह्लादलीला तक मेरी पहुंच थी। तुलसीकृत रामायण का श्रवणसुख लेना ही मैं पसंद करता था। कभी-कभी धार्मिक दृष्टि से पाठ भी कर लेता था। बहुत हुआ तो आर्य समाज और सनातन धर्म के शास्त्रार्थ-संबंधी ट्रैक्ट पढ़ लिये। उस समय और पढ़ने को था भी कुछ अधिक नहीं, भजनों की किताबों का थोड़ा प्रचार अवश्य था। खैर सनातन धर्मी होते हुए भी मैंने आर्य समाजी पंडित तुलसीरामजी की किताबों से संस्कृत आरंभ की। (उस समय शायद पंडित तुलसीरामजी सनातन धर्मी हो गये थे) मैट्रिक में संस्कृत लेकर पास हो गया। फर्स्टईयर में आया। ग्राउस साहब के रामचरित मानस के अंग्रेजी अनुवाद से उनके काव्य-सौंदर्य का अनुभव किया। पहले जब रामायण की कथा सुना करता था तब वह मेरी कौतूहल बुद्धि की तृप्ति करती थी। भट्टजी की रामायण से कुछ अंश और कुछ अंश पंडित ज्वालाप्रसादजी की रामायण से पढ़े, किंतु पूर्ण नहीं। मैं अपूर्णता में अधिक विश्वास करता हूं। रामायण का पूर्ण पाठ दो-चार बार परमात्मा को रिश्वत देने के अर्थ अवश्य किया। बी.ए. में आकर पिताजी के पाठ की विनयपत्रिका के कुछ पद पढ़े। विनय-पत्रिका का परिचय मुझे 'केशव कहि न जाय का कहिए' के अंग्रेजी अनुवाद से हुआ जो मैंने बाबू भगवान दास की किसी अंग्रेजी पुस्तक में पढ़ा था। मुझे उस समय उस पद में दर्शन-शास्त्र का सार-सा प्रतीत होता था। उसको पढ़कर मुझे उतनी ही प्रसन्न्ता हुई थी जितनी कि आर्शमीदश (Archemedes) को सापेक्षिक गुरुत्व के सिद्धांत को जानकर हुई होगी।

वैश्य बोर्डिंग हाउस के जीवन में कुछ देश-भक्ति के संस्कार बन गए थे। स्वदेश के अभिमान के साथ स्वभाषाभिमान भी जाग्रत हो गया। 'भारत-भाल बिंदी हिंदी' की भी चर्चा

होने लगी। उन दिनों हिंदी की नई-नई पुस्तकें निकल रही थीं। राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर गरमागरम बहस हुआ करती थी। जस्टिस् शारदाचरन मित्र और न जाने किन-किन की दुहाई दी जाती थी। 'देवनागरी' अखबार निकलने से राष्ट्रभाषा का भविष्य उज्ज्वल दिखाई पड़ने लगा था। 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' का पाठ प्रत्येक देश-प्रेमी महाशय के मुख पर था। उस वातावरण में अछूता रहना विशेषकर मुझ ऐसे भावुक हृदय के लिए असंभव था। हिंदी के प्रभाव को अग्रसर करने में इटावा के मित्रवर सूर्यनारायण और फीरोजाबाद के सुहृदवर माधुरीप्रसादजी का विशेष हाथ था। इन लोगों की श्रद्धाभक्ति संक्रामक थी। मैंने भी सोचा कि बिना मातृ-भाषा-प्रेम के वंदे मातरम् की पुकार अधूरी है। मैं उस समय अंग्रेजी में कुछ लिखने लग गया था। मेरे भेजे हुए एक-दो संवाद और शायद दो-एक लेख लीडर में छप चुके थे। फूल वे जो महेश पर चढ़ें। बात वही जो अखबार में छपे। एक लेख Inequalities of life पर जिसमें आवागमन के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया था, अंग्रेजी थियोसोफिस्ट में छपा था। मैं अपने को धन्य समझता था। उस समय तक मुझे हिंदी लिखने की शक्ति में विश्वास न था। हनुमानजी की तरह मुझे शक्ति की याद दिलाने की जरूरत थी। फीरोजाबाद के भारती-भवन का सालाना जलसा था। पूज्यपाद किशोरीलाल गोस्वामीजी उसके सभापति होने वाले थे। स्वागताध्यक्ष का भार मुझे सौंपा गया। पीछे से वह किन्हीं वृहत्तर व्यक्ति के सुविशाल स्कंधों पर रखा गया। मेरा भाषण तैयार हो चुका था। उसको मैंने स्वागताध्यक्ष के रूप से तो नहीं वरन एक साधारण सदस्य के रूप से पढ़ा। लोगों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसे किसी अखबार में, शायद 'भारत-मित्र' में भेज दिया। मैं गंगा तुलसी तो नहीं उठा सकता लेकिन मेरा ख्याल है कि वह छप गया।

दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी होने के कारण मेरे पास विचारों की कमी न थी मेरे गुरुदेव राजू साहब ने नई-नई समस्याओं से मेरा परिचय करा दिया था। 'बादल से चले आते थे मजमूं मेरे आगे।' संस्कृत के चलते ज्ञान के कारण शब्द गढ़ने का कौशल मुझ में आ गया था। अंग्रेजी के रचना संबंधी नियम कुछ जानता था उन्हीं के आधार पर मैं अपनी घन्नाई को ख्याति के सागर में तैरा ले गया।

पहले-पहले मेरे लेखों को इलाहाबाद के 'विद्यार्थी' ने अपनाया था। यह स्वर्गीय देवेन्द्रप्रसाद जैन की, जिनका परिचय श्री जमुनाप्रसादजी द्वारा हुआ था, कृपा का फल था। पहला लेख साहित्य के क्रम-विकास पर था, दूसरा लेख श्री डॉबसन साहब से सुने हुए हेगिल के कला-विवेचन पर था। कलाओं में काव्य के स्थान पर शायद मैंने ही पहला लेख लिखा था। यह 1912 या 13 की बात है। 1913 में मैं छतरपुर पहुंच गया था। उसी साल 'शांति-धर्म'

नाम की मेरी पहली किताब निकली। देवेंद्रप्रसाद जैन के प्रकाशन को देखकर मैं मुग्ध हो गया था। जिस प्रकार एक फ्रांसीसी महिला ताजमहल को देखकर इस शर्त पर प्राण-त्यागने को तैयार हो गई थी कि उसकी भी कब्र ताजमहल जैसी बना दी जाय, उसी प्रकार मैं भी लेखक बनने को इस शर्त पर तैयार हो गया कि देवेंद्रप्रसाद के अन्य प्रकाशनों की सी सज-धज के साथ मेरी भी पुस्तक इण्डियन प्रेस में छपवा दी जाय।

पुस्तक प्रकाशित तो प्रेम-मन्दिर आरा से ही हुई किन्तु छपी इण्डियन प्रेस में। फैदरवेट पेपर और चांदी के वर्कों के साथ घुटी हुई स्याही के कारण उसका गेट अप बड़ा आकर्षक हो गया था। मुझे लेखक-जीवन की सबसे बड़ी प्रसन्नता तब हुई जब एक रोज व्हीलर की बुक स्टाल के छोकरे ने मुझे मेरी ही पुस्तक यह कह कर दिखाई 'बाबू साहब! यह नई पुस्तक आई है बड़ी अच्छी निकली है।' दूसरी किताब 'फिर निराशा क्यों?' के नाम से छपी। उसका भी विचित्र इतिहास है। उस समय 'भारत विनय' नाम का मिश्रबन्धुओं की कविताओं का संग्रह निकला था। उसकी आलोचना में 'भारतमित्र' ने लिखा था कि इसकी पद्य तो ऐसी है जो गद्य के कान काटे। उसी समय मेरे मन में यह बात आई कि मैं गद्य ऐसी लिखूं जो पद्य के कान काटे। इसी प्रेरणा से 'फिर निराशा क्यों?' लिखी। उस समय गद्य-काव्य का लिखना बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में था। उस पुस्तक का सम्पादन भी शिवपूजन सहाय ने किया था। इसी ने मुझे हिन्दी के निबन्ध-लेखकों की पंक्ति में बैठने का प्रवेश-पत्र दिलवाया।

श्री शुकदेवबिहारी मिश्र की सिफारिश से मुझे मनोरंजन-पुस्तक-माला में 'कर्तव्य-शास्त्र' लिखने को मिला। लोकमान्य तिलक के गीता रहस्य के सुनने से (उसकी श्री वियोगी हरि ने मुझे सुनाने की कृपा की थी।) मेरी यह धारणा हुई कि भारतीय दृष्टिकोण से कर्तव्य-शास्त्र लिखा जा सकता है। मनोरंजन-पुस्तक-माला में एक पुस्तक छप जाने से मैं अपने को लिक्खाड़ समझने लगा और जिस प्रकार चीता एक बार मनुष्य को मार लेता है फिर वह शिकारी बन जाता है—उसी प्रकार मेरी झिझक छूट गई। नागरी-प्रचारिणी-सभा से मेरा सीधा सम्बन्ध हो गया, उसके लिए तर्क-शास्त्र और पाश्चात्य-दर्शनों का इतिहास लिखा।

अभी तक मैंने दार्शनिक पुस्तकें ही लिखी थीं। छतरपुर की नौकरी के अवसर पर मैनपुरी भी जाया करता था। वहां प्रज्ञाचक्षु श्री धनराजजी शास्त्री से साक्षात्कार हुआ। उनको बहुत से प्राचीन ग्रन्थ मुखस्थ थे। उन ग्रन्थों की प्रामाणिकता में तो संदेह है किन्तु उनकी सामग्री बड़ी अपूर्व थी। उन्होंने एक दिन नवरस का विषय छेड़ा। उसमें मुझे बहुत महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सामग्री दिखाई पड़ी। मैंने छतरपुर जाते ही नवरस के विषय का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। उस समय अयोध्या-नरेश के लिखे हुए रस-रत्नाकर के अतिरिक्त हिन्दी-गद्य में इस विषय का और कोई ग्रन्थ न था। इस विषय पर पहला लेख इन्दौर के पहले

साहित्य-सम्मेलन के लिए लिखा। उसी को विस्तृत कर पुस्तकाकार कर दिया। अब उसका दूसरा संस्करण भी हो गया है। यन्त्रस्थ रहने के समय मुझे उसके दर्शन न होने के कारण उसमें बहुत-सी अशुद्धियां रह गई हैं। जिनसे मैं स्वयं तो बहुत लज्जित हूं, फिर भी समझता हूं, कि पाठक को उसमें कुछ महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सामग्री मिल जायगी? अब उस विषय को मैंने अपने 'सिद्धांत और अध्ययन' में नये सिरे से लिख दिया है।

'ठलुआ क्लब' के शीर्षक का सुझाव जेरोम के० जेरोम (Jerome K. Jerome) के Idle Thoughts of an Idler से हुआ था। दोनों पुस्तकों के समर्पण में कुछ समानता है—उसने अपनी पुस्तक अपने चिर सखा स्मोकिंग पाइप (Smoking pipe) को समर्पित की है, मैंने अपनी पुस्तक चिर-संगिनी शैया देवी को। इसके सिवा और कुछ उससे नहीं लिया।

ये पुस्तकें तो स्वान्तःसुखाय लिखीं, शेष पुस्तकों का अधिकांश में 'उदर-निमित्त' निर्माण हुआ है। उदर-निमित्त लिखी हुई पुस्तकों में प्रबन्ध-प्रभाकर, हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास, विज्ञान-वार्ता और हिन्दी-नाट्य-विमर्श मुख्य हैं। ये पुस्तकें भी नितान्त उदर-निमित्त नही लिखीं। मेरी लिखी पुस्तकों की संख्या 25 से अधिक हो चुकी किन्तु कोई भी पुस्तक सृजन की प्रेरणा के विना नहीं लिखता हूं यह दूसरी बात है कि उनमें अर्थ लाभ का कुछ उद्देश्य अधिक हो जाय। इन पुस्तकों के लिखने की प्रेरणा इनके सुयोग्य प्रकाशकों से ही मिली। इस प्रकार मैं ठोक-पीट कर लेखकराज बन गया। मैंने ख्याति का उपार्जन छतरपुर रहते हुए ही कर लिया था। किन्तु आगरा आकर ज्ञान का संचय कुछ अधिक किया। अब केवल इतना ही जानना है कि मेरी मदान्धता दूर हो सके। छतरपुर से यहां आने पर मुझ पर आचार्य शुक्लजी का बहुत प्रभाव पड़ा। जब तक मैं छतरपुर रहा तब तक विद्याव्यसनी होने में मिश्र-बन्धुओं—विशेषकर शुकदेवबिहारी—से प्रभावित रहा।

जेरोम के. जेराम (Jerome K. Jerome) की पुस्तक में पाइप का मित्र से साम्य है और मेरी पुस्तक में शैया पर प्रेयसी से साम्य है। ठलुआ क्लब की भूमिका में मुन्शी प्रेमचन्द ने उसकी Pickwick Club से समानता की है और उसमें यह व्यंजित किया है कि मैं चार्ल्स डिकिन्स से प्रभावित हूं। यह तो मैं नहीं कहता कि मैंने फर्स्ट या सैकिंड ईयर में पिकविक पेपर्स नहीं पढ़े किन्तु ठलुआ क्लब लिखते समय कम-से-कम ऊपरी चेतना से उसका मुझे लेशमात्र भी ज्ञान न था, अबचेतन में हो तो मैं उसके लिए कसम खाकर उसका प्रतिवाद नहीं करूंगा। असली बात तो यह थी कि मैं अपनी किताब का नाम 'ठलुआ नवरत्न' रखना चाहता था, इस पर रायबहादुर पण्डित शुकदेवबिहारी ने कहा, शरारत करते हो, हमारे नवरत्न की हंसी उड़ाते हो—मैंने कहा नहीं साहब ठलुआ क्लब रख लूंगा। उस नाम में भी

उन्हीं पर व्यंग्य था क्योंकि उनकी ही कोठी पर आफीसरों का क्लब जमा करता था। लेखक भी मैं ठोक-पीट कर ही बना हूं। प्रतिभा अवश्य है किन्तु यह एक तिहाई से अधिक नहीं। मेरे लेखन में दो तिहाई परिश्रम और चोरी रहती है। लेखन के पीछे ठोस पाण्डित्य का प्रदर्शन अधिक रहता है। मुझ में पाण्डित्य का विस्तार चाहे हो किन्तु गहराई नहीं है और बावन तोले पाव रत्ती वाली यथार्थता और निश्चयता और भी कम। किन्तु मैं इस कमी को सफलतापूर्वक छिपा लेता हूं।

लेखन से मुझे अर्थ लाभ भी हुआ और यश लाभ भी। किसकी मात्रा अधिक रही यह नहीं कह सकता। मुझे शिकायत किसी और से नहीं है। लेखक होने के कारण मैं वेकारी की ऊब से बच गया हूं और धीमताओं की संज्ञा में आ गया हूं।

"काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।"

*****

ठोक-पीट कर लेखक (राज़-2)

मैं कहानी और कविता क्यों न लिख सका?

मैंने अपने जीवन में कोई कहानी नहीं लिखी। इसलिए नहीं कि वह लिखने योग्य चीज नहीं है, वरन् इसलिए कि मुझ में कहानी लिखने की योग्यता नहीं। मैं कहानी लिखने को कहानी को लोमड़ी की भांति खट्टे अंगूर न कहूंगा। वह मेरे लिए विशेष महत्व की चीज है। जिस बात को मैं करने में समर्थ होता हूं मेरी निगाह में उसका महत्व नहीं रहता है। इसलिए मैं कभी-कभी कह देता हूं कि मैंने अपने जीवन में कोई महत्व का कार्य नहीं किया और न कर सकूंगा। क्योंकि जिस कार्य को मैं कर सकूंगा उसको कोई मूर्ख भी कर सकता है। कहानी लिखना उन चीजों में से नहीं है। कहानी लेखक एक नई सृष्टि की रचना करता है। वह ग्रामोफोन या टेलीफोन की आवाज की भांति चाहे पहली आवाज की प्रतिलिपि ही क्यों न हो किन्तु नई सृष्टि होती है। वह ईश्वर का भी प्रतिस्पर्धी है, वह सच्चे कवि की भांति रवि की भी पहुंच से वाहर (सन्दूकनुमा मकानों की सील भरी कोठरियों में नहीं) असूर्य स्पर्शी (राजमहल की पटरानियां न समझिये) मन की भावनाओं का भी साक्षात्कार कर लेता है। वह जीवन की आलोचना ही नहीं करता वरन् स्थाली-पुलाक-न्याय (हांडी के एक चावल की भांति) एक ही मार्मिक घटना में मनुष्य के सारे चरित्र पर विद्युत प्रकाश डाल देता हैं। यदि मैं कहानी लिख सकता तो जरूर लिखता क्योंकि मैं संसार से इतना उदासीन नहीं हूं कि जो सहज में शक्य हो उसके लिए महत्वाकांक्षा रखूं। हां आकाश के तारे नहीं तोड़ना चाहता।

कहानी लेखक के कुछ स्वाभाविक गुण होते हैं शायद कुछ दोष भी। मैंने पूरा आत्म-विश्लेपण करने का तो उद्योग नहीं किया है किन्तु सरसरी तौर से देखने पर दो-एक वातों की कमी अवश्य पाता हूं, इसलिए कहानी लेखक न वन सका।

मैं इतना बड़ा आदमी नहीं हूं कि लोग मेरी खुशामद करें। यदि मैं होता तो शायद मेरे खुशामदी लोग कहते 'हुजूर बड़े सत्य के प्रेमी हैं, कहानी में झूठ सच सभी रहता है, इसीलिए आप कहानी नहीं लिख सकते।' और कोई यह भी कह देता कि आपको दूसरों

की भलाई-बुराई से क्या काम? आपको तो अपने काम से काम। यह दोनों ही बातें 'प्रियं ब्रूयात्' तो होतीं किन्तु 'सत्यं ब्रूयात्' से बहुत दूर हैं। मैंने अपने जीवन में काफी झूठ बोला है। अपने प्रतिस्पर्धियों की या जिसकी मैंने प्रतिस्पर्धा करना चाहा है, उनकी (अपने से छोटों की नहीं) भलाई बुराई भी ऊपर से उपेक्षा भाव दिखाते हुए, परन्तु भीतर से पृथु की भांति सहस्र कर्ण होकर सुनी है। जैसा लोग समझते हैं, कहानी लेखक झूठा भी नहीं होता, घटना का सत्य नहीं तो भावना का सत्य तो वह एक विशेष बल के साथ कहता है। मेरी असफलता का कुछ और ही कारण होगा।

कहानी लेखक के लिए सबसे पहला गुण है—सहृदय निरीक्षण और प्रभावित होने की शक्ति—और दूसरी चीज है—कल्पना के सहारे सब के आगे-पीछे और अन्तर्बाह्य के कुलावे मिलाकर एक तारतम्यपूर्ण कथा को अच्छी भाषा में दे देना। मुझ में निरीक्षण है, सहृदयता भी है, और गर्व के साथ कह सकता हूं कि बहुत से कहानी लेखकों से कुछ अधिक प्रभावित भी होता हूं, किन्तु सहृदयता इतनी बढ़ी हुई नहीं है कि वस्तु के सामने न रहते हुए भी मैं उसकी उधेड़-बुन में पड़ जाऊं। मैं वह सच्चा प्रेमी नहीं जो दूसरों की बात को भी प्रेमिका की बातों का-सा महत्व दूं। मैं जितना शीघ्र प्रभावित होता हूं उतने ही शीघ्र वह प्रभाव उड़ जाता है। मैं आवारागर्दी तो काफी करता हूं, एक जगह न ठहरने में मैं नारद मुनि से बढ़ा-चढ़ा हूं किन्तु न तो किसी बात को अन्त तक पहुंचते देखने की मुझ में सावधानी है और न कल्पना को ही इतना कष्ट देना चाहता हूं कि उसके आगे-पीछे की बात जोड़ दूं। पल्ले दरजे का आलसी वही है जो कल्पना को भी कष्ट न दे।

कल्पना करने में मैं नितान्त असमर्थ नहीं हूं। उपन्यासकार या कहानीकार की भांति मैं भी आगे-पीछे की कुछ कल्पना कर सकता हूं, किन्तु जिसको देखा नहीं उसके ब्यौरेवार वर्णन करने में मैं असमर्थ हूं, निशाना लगाने के लिए अर्जुन ने पक्षी की आंख ही देखी थी, उसके लिए और सब अनावश्यक था किन्तु केवल आंख बिना शरीर के नहीं रह सकती। कहानीकार देखता तो आंख को ही है किन्तु वह उस आंख को रेखा-गणित के बिन्दु की भांति नहीं वरन् शरीर के अंग की भांति। मैं लक्ष्य को देख सकता हूं किन्तु मुझ में उसके पहुंचने के मार्ग को देखने का सब्र नहीं। मेरे मन की गति मन की-सी गति रहती है, वास्तविक संसार की-सी गति नहीं होती। मैं आम खाना (अलंकारिक और वास्तविक) भी जानता हूं किन्तु पेड़ गिनना नहीं। पेड़ गिनना चाहे दूसरे के लिए अनावश्यक हो कहानीकार के लिए वह आवश्यक है। मैं रूपरेखा चाहे बना लूं किन्तु उसको मांसल नहीं कर सकता। यह शायद मेरी दार्शनिक दीक्षा का फल हो। मेरे लिए कहानी अब भी बड़ी चीज है। जब कहानी और वामनाकार हो जायगी तब शायद मैं भी कहानीकार का गौरव प्राप्त कर सकूंगा।

कौन किस परिस्थिति में क्या कहेगा यह मैं मनोवैज्ञानिक की हैसियत से थोड़ा-बहुत जानता हूं किन्तु परिस्थिति उत्पन्न करने में मेरी कल्पना पंगु रह जाती है। उस पर सरस्वती देवी की कृपा नहीं हुई जिससे 'पंगु लंघयते गिरिम्।' मैं उपस्थित की हुई परिस्थिति में हास्य देख सकता हूं लेकिन परिस्थिति का निर्माण नहीं कर सकता। इसलिए मैं अपनी ही कहानी लिखने में सफल हुआ हूं किन्तु उसमें कोई महत्व की बात नहीं क्योंकि अपनी राम-कहानी तो सभी कह लेते हैं। दूसरों की बात जो कहे वही सच्चा सहृदय और आत्म-त्यागी है।

इसी प्रकार कवि-हृदय पाकर भी मैं कविता नहीं लिख सका। इसका कारण तो यह है कि जब तक गहरी वेदना न हो तब तक कल्पना जाग्रत नहीं होती। बहुत सी बड़ी-बड़ी बातों को मैं दार्शनिक उपेक्षा से देखता हूं यद्यपि कभी-कभी छोटी-छोटी बातों से मेरे मन की शांति विचलित हो जाती है। इसके अतिरिक्त मैं संगीत नहीं जानता इस कमी के कारण कभी-कभी ठोक-पीट कर मैंने दो-एक वर्ण-वृत लिख लिये किन्तु मात्रिक छन्द नहीं लिख सका। चार छः गद्य-काव्य अवश्य लिखे हैं किन्तु वे मेरे जीवन की अव्यवस्था के कारण संग्रहीत नहीं हो सके हैं।

बोलिए तो तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होयं रहिए।
जोरिए तौ तब जब जोरिबे की रीति जानैं,
तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिए।
—सुन्दरदास

*****

ठोक-पीट कर लेखक (राज़-3)

मेरी कलम का राज़

यद्यपि मुझे माता शारदा से इस बात की शिकायत नहीं कि उन्होंने मेरे साथ सौतेले पुत्र का बर्ताव किया; 'कुपुत्रों जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति', तथापि मैं इतना बड़ा आदमी नहीं कि बहुत से कलाकारों की भांति कह सकूं कि मेरी कविता का सबसे बड़ा राज यह है कि उसमें कोई राज नहीं है। कलम में कोई राज न होना सरस्वती देवी की विशेष कृपा का फल होता है। वह कृपा शायद इसीलिए न हो सकी कि मेरे पास उनके हंस को खुश करने के लिए मोती न थे और मैंने कहीं मूर्खता वश पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी के उस लेख की प्रशंसा कर दी थी कि जिसमें उन्होंने सिद्ध किया था कि नीर-क्षीर अलग करने की बात चाहे 'कवि-कल्पना लोक' में सत्य हो किन्तु वास्तविक जगत् में ठीक नहीं है। फिर सरस्वती देवी की कैसे कृपा होती? क्योंकि देवता लोग भी आज-कल के नेताओं और अफसरों की भांति वाहनाधीन हैं, क्योंकि जो कुछ मैं कर सका हूं वह भी उनके अनुग्रह का ही फल है।

आपने मुझसे मेरी कलम का राज पूछने की कृपा की यह बात भी 'पुण्यैर्विना न लभ्यते'। मैंने पढ़ा बहुत है, मुझ में इतनी चालाकी अवश्य है कि बगुला होता हुआ भी प्रायः हंसों को भी धोखा दे देता हूं। इसमें कुछ भाग्य भी सहारा देता है। हमेशा तो नहीं, कभी-कभी ऐसा होता है कि किताब के पन्ने पलटते-पलटते कुछ ऐसी बात मिल जाती है जिसको मैं लेखक के हृदय की कुन्जी कहता हूं। मुझ में इतनी सावधनी नहीं कि पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ूं (संसार में ऐसी थोड़ी ही पुस्तकों को गौरव मिला है, जिनको मैंने, अथ से इति तक पढ़ा हो) जब तक लेखक के हृदय की कुन्जी नहीं मिलती तब तक मैं परेशान-सा भी रहता हूं और मुझे समय के अपव्यय पर झूंझल आने लगती है।

संक्षेप में यह कह सकता हूं कि मुझे चोरी की कला आ गई है। मुझे दूसरों की कृतियों में बिना ताला तोड़े या एक्स-रे का प्रयोग किये ही रत्न मिल जाते हैं। रत्न अपने ही प्रकाश में प्रकट हो जाते हैं। उन रत्नों को मैं वैसा ही बाजार में नहीं ले जाता, उनको थोड़ा-बहुत

गढ़ता हूं जिससे पहचान में नहीं आवें और सम्भव है कि वे इस प्रयत्न में थोड़े बहुत विकृत भी हो जाते हों, लेकिन मेरी चोरी आज तक पकड़ी नहीं गई। बस मेरे जीवन की यही सफलता है। संस्कृत में चोरी कला के कई ग्रन्थ हैं—ऐसा मैंने सुना है। पढ़ा तो है मैंने केवल मृच्छकटिक नाटक में 'शर्विलक' चोर की कला का हाल। डीक्विन्सी De Quincey या और किसी विदेशी लेखक ने अपने Murder as a Fine Art के नाम के निबन्ध में हत्या की कला का रूप दिया है। बिना किसी चोरी के कोर्स को लिए, और बिना कन्सेशन रेट के पांच गिनी खर्च किये, तथा बिना भगवान स्वामिकार्तिकेय को जो चोरों के आराध्यदेव हैं, खुश किये, मैंने चोरी के मूल सूत्र जान लिये हैं। वे इस प्रकार हैं (1) माल की थांग लगाना (2) मालिक को बिना जगाये माल को हथियाना, (3) हथियाये हुए माल का रूप बदल कर उसे बाजार में चला देना—यद्यपि ये बातें देखने में सरल प्रतीत होती हैं तथापि ये भी 'अभ्यासेन तु कौन्तेय परिप्रश्नेन सेवया' ही सिद्ध हो सकती है। पूर्वजों के पुण्य प्रताप से मुझे यह विद्या सिद्ध हो गई है। माल की थांग बिना अधिक परिश्रम किये, अपने आप लग जाती है। उत्तम और चमत्कारपूर्ण विचार रत्नों और महोषधियों की भांति स्वयं चमक उठते हैं (भास्यन्तिरत्नानि महौषधीन्च'—कुमारसम्भव) उनके लिए मेरी निगाह अभ्यस्त हो गई है। सौभाग्य से विरले ही लेखक जागरणशील होते हैं और उनकी पुस्तकें उनसे प्रायः दूर रहती हैं। उनका माल मेरी लेखनी की नोंक पर सोलह आने नहीं तो बारह आने अवश्य बदल जाता है। लड्डुओं की बर्फी बनाने और कड़ों को कुण्डल बनाने में देर नहीं लगती। वेदान्तियों का-सा-कनक रूपी ब्रह्म एक ही रहता है।

अगर अपने मुंह मियां मिट्ठू बनना बुरा न समझा जाय तो मैं कह सकता हूं कि मेरी रचनाओं में तार्किक क्रम अधिक रहता है। यह मेरे दार्शनिक संस्कार का फल है। इसी दार्शनिकता के कारण मेरी रचनाओं में अनावश्यक बातें नहीं आने पातीं। मैं अपनी अल्पज्ञता के कारण अपने लेख को अधिक पाण्डित्यपूर्ण भी नहीं बना सकता (यद्यपि पाण्डित्य का आभास अवश्य दे लेता हूं) इसलिए साधारण बुद्धि वाले लोगों में मेरी कलम का मान है। भाषा में आडम्बर की मात्रा बहुत कम रहती है, हां अगर हास्य का पुट देना हो तो बात दूसरी है। अब मैं प्रायः गम्भीर बातों में भी हास्य का समावेश करने लगा हूं। जहां हास्य के कारण अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना हो अथवा अत्यन्त करुण प्रसंग हो तो मैं हास्य से बचूंगा अन्यथा मैं प्रसंगात् हास्य का उतना ही स्वागत करता हूं जितना कि कृपण क्या कोई भी, अनायास आये हुए धन का। और मुझे हास्य का एक पुट देने में उतनी ही प्रसन्नता होती है जितनी कि प्राचीन समय के सूत्रकारों को एक अक्षर या मात्रा के बचाने में। इतना अवश्य है कि उन लोगों ने जो प्रसन्नता का परिमाण रखा था वह (यानी पुत्र-जन्म) आजकल सन्तान-निरोध के दिनों में विशेष सार्थकता नहीं रखता।

हास्य का पुट देने के लिये मुझे विशेप प्रयत्न नहीं करना पड़ता किन्तु, अव मैं अपने हास्य की टेकनीक समझ-सा गया हूं और कभी-कभी उसे सप्रयत्न भी उपस्थित कर सकता हूं। मेरे हास्य नें खास बात यह है कि मैं कहावतों और संस्कृत के अवतरणों में अपने मतलब के अनुकूल हेर-फेर का एक सुखद परिवर्तन पैदा कर देता हूं, जैसे रघुवंशियों के लिए कालिदास ने कहा है—'योगेनान्ते तनुः त्यजाम्'। मैंने आजकल के लोगों के लिए कह दिया, 'रोगेनान्ते तनुः त्यजाम्'। कभी द्वयर्थक शब्दों से भी हास्य की झलक ला देता हूं। जो कुछ (रुपया) जमा था वह अव खेत में जमा है। कभी मुहावरों के लाक्षणिक अर्थ को अभिधा के ही अर्थ में व्यवहृत कर चमत्कार उत्पन्न कर देता हूं, जैसे अधिक वर्षा के कारण मेरा बगीचा नष्ट हो गया तो मैंने लिखा कि मेरी मेहनत पर पानी पड़ गया और जव पपीते में फल हुआ तो मैंने लिखा कि मेरी मेहनत सफल हो गई। मेरी काशीफल की वेल में फल नहीं आये तो मैंने गीता का वाक्य लिख दिया 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः'। कभी कभी प्राचीन कथाओं का भी प्रयोग कर देता हूं। मेरे हास्य में साहित्यिकता अधिक रहती है। धौल-धप्पा और गिरने-पड़ने और घसीटने वाली हास्यमय परिस्थितियों के उत्पन्न करने में मैं असफल रहता हूं। उर्दू-फारसी के शव्द और मुहावरे भी कभी-कभी पूर्व जन्म में किये हुए पुण्य की भांति सहायक होते हैं, क्योंकि फारसी का अध्ययन छोड़े प्रायः एक युग हो गया। हास्य का मूल रहस्य है वेमेल वातों को मिलाना, जैसे कहां पूर्व जन्म के पुण्य और कहां स्कूल में पढ़ी हुई फारसी-उर्दू?

मैं लिखता तो बिना विचारे ही हूं, कभी-कभी पछताना भी पड़ता है, लेकिन बहुत कम। लेख के प्रारम्भ में थोड़ा अवश्य परिश्रम कर लेता हूं। बिना तीन चार कागजों का बलिदान किये किसी सफल लेख का श्रीगणेश नहीं होता है। मेरे लेख में काट-छांट और घटा-बढ़ी भी होती है। बीच में वे ऐरो (Arrow) लगा कर जोड़ा भी अधिक जाता है, इस कारण अक्षर-ब्रह्म को उंगलियों पर नचाने वाले कम्पोजीटर लोग मेरे लेखों से बहुत परेशान रहते हैं। मैंने उन लोगों की प्रसन्नता के लिए, एक स्तोत्र भी लिखा है। बीच में ऐरो लगा कर बढ़ाने का कारण है संगति लाने के लिए; पीछे से ध्यान में आये हुए वाक्य को यथा-स्थान ही रखना चाहता हूं। विना काटे मैंने बहुत कम लिखा है, फिर भी उसमें गलती रह जाती है। वे गलतियां कभी तो मेरी ही होती हैं और कभी उनके लिए प्रेस के भूत बलिदान के बकरे वना दिये जाते हैं। जहां प्रेस के भूतों की वास्तविक गलती होती है वहां मुझे झूंझल आती है। फिर यही सोचकर रह जाता हूं कि कभी अपनी भूल को उनके सर मढ़ देता हूं तो उनकी भूल को अपने ऊपर क्यों न लूं? 'कभी लढ़ी नाव पर और कभी नाव लढ़ी पर।' मेरी प्रेस कापी दूसरों की रफ कापी को भी लज्जित करती है। सफे अस्त-व्यस्त होने के कारण खो भी जाते हैं। यह जानकर सन्तोष होता है कि भगवान पातंजलि के महाभाष्य

के पन्ने जो कि पीपल के पत्तों पर लिखे हुए थे, बकरी चर गई थी। उनके सामने मेरी पुस्तकों की क्या गणना? सफों की अस्त-व्यस्तता के कारण मेरे नवरस में भी कई प्रसंग अधूरे रह गये हैं।

मेरी शैली में बहुत से दोष हैं जो कभी-कभी उसके गुणों को दबा लेते हैं। मैं अपनी भाषा को आडम्बर-पूर्ण बनाने से बचाता हूं। लेकिन सरल भाषा को गौरवशालिनी बनाना मुझे नहीं आता। इसी कारण मेरी भाषा में शैथिल्य आ जाता है। या वह पाण्डित्य से बोझिल हो जाती है और उसमें कृत्रिमता की गंध आने लगती है। कभी-कभी पुनरुक्ति दोष से भी दूषित हो जाती है। क्योंकि पुनरुक्ति के भय से मैं राम-नाम भी कम लेता हूं फिर भी पुनरुक्ति से बचता नहीं। चाहिये, चाहिये लगातार कई वाक्यों में चले आते हैं। अव तो चाहिये के स्थान में वांछनीय, आवश्यक आदि लिखकर एकतानता को बचा जाता हूं। ऐसे बहुत से दोष होते हुये भी लोगों ने मेरे लेखों को पढ़ने योग्य समझा है। इसका यही कारण है कि मैं कहने के लिए कुछ तथ्य की बात खोजता हूं और उसे येन-केन-प्रकारेण पूर्णतया हृदयंगम कराने का प्रयत्न करता हूं। उसमें हास्य का पुट देकर उसे ग्राह्य बना देता हूं। यही मेरी कलम का राज है।

*****

'हाथ झारि के चले जुआरी'

लोग कहा करते हैं कि 'बीती ताहि बिसार दे आगे की सुधि लेहि।' किन्तु मैं जान-बूझ कर कुछ नहीं भूलना चाहता हूं। उपकारों को भूल जाना तो कृतघ्नता है, अपकारों को भी मैं भूलता नहीं, किन्तु क्षमा अवश्य कर देता हूं। Forget and forgive 'भूल जाओ और क्षमा करो' की उक्ति उन कमजोर लोगों की है, जो सहज में क्षमा नहीं कर सकते।

वैसे तो शास्त्रकारों की आज्ञा है कि अपने ठगे जाने और अपमान को प्रकाशित नहीं करना चाहिए। किन्तु मैं कलाकार तो नहीं, कला का पारखी अवश्य हूं। इस नाते कलाकार की प्रशंसा किये विना नहीं रह सकता हूं।

मैं कई बार ठगा गया हूं किन्तु एक बार के ठगे जाने की बात तो ठग की कलात्मक एवं मनोवैज्ञानिकता के कारण भूल नहीं सकता और उसी कारण उसका प्रकाशन करना मैं नीति के विरुद्ध नहीं समझता, वरन् उसका न प्रकाशन करना कलाकार के प्रति अन्याय कहूंगा। मैं अपने को बहुत बुद्धिमान नहीं समझता तो बहुत मूर्ख भी नहीं मानता। इसीलिए कलाकार की कला का महत्व बढ़ जाता है।

इस प्रकार की घटना दूसरों के साथ भी हो चुकी है, यह मुझे पीछे से मालूम हुआ। शायद अखबारों में भी छपी होगी; किन्तु ठगी के शिकार की जबानी न कही गई होगी। वह किसी अन्य पुरुष की सुनी-सुनाई बात होगी। अदालतों में सुनी हुई बात की गवाही (Hearsay evidence) का विश्वास नहीं किया जाता। यहां तो मैं चश्मदीद गवाह ही नहीं हूं स्वयं भुक्तभोगी हूं और बकलम खुद लिख रहा हूं।

उन ठगों की कहानी मैंने सुनी थी जिन्होंने एक आदमी को यह विश्वास दिलाया था कि उसके कन्धे पर रखी हुई भेड़ कुत्ता है और उसने भी उसे कुत्ता समझ कर स्वयं को भार मुक्त कर लिया था। परन्तु मैं उस बात पर सहसा विश्वास नहीं करता था। जब से मेरे साथ ऐसी घटना घटी है तब से मुझे विश्वास हो गया है कि दुनिया में अविश्वास करने योग्य कोई बात नहीं।

मैंने भूमिका में आपके धैर्य की परीक्षा ले ली। आपकी उत्सुकता जाग्रत कर उस बात को न सुनाना पाप होगा। यह लम्बी भूमिका इसीलिए बांधी थी कि जितनी देर अपनी मूर्खता के प्रकाशन से बच जाऊं उतना ही अच्छा है। मैंने इस मूर्खता को कृपण के धन की भांति सुरक्षित रखा था। और उनके सुनाने में उतनी ही कसक लग रही है जितना कि लोगों को पैसा देने में। खैर अब सुनिये।

शायद सन् 43 की बात है! मैं दिल्ली गया हुआ था। लोग कहा करते हैं कि दिल्ली दूर है; किन्तु मेरे लिए वह नजदीक है। क्योंकि मैं खास दिल्ली दरवाजे पर ही तो रहता हूं। दिल्ली के कुतुब के पास एक रेल का पुल है। उसके कुछ इधर ही एक अपेक्षाकृत कम चालू निर्जन-सा मार्ग है। मैं नये बाजार के पास लाहौरी दरवाजे से आ रहा था, कुतुब रोड़ जाने के लिये; क्योंकि वहीं से बिड़ला मंदिर के पास समरु रोड़ क्वार्टरों में ठहरा करता था।

पैसे बचाने के लिए तो इतना नहीं (मेरे पास रेजगारी भी नहीं थी) परन्तु ट्राम की भीड़ से बचने के लिए मैं पैदल ही चलना पसन्द करता हूं। मैं धीरे-धीरे शनैश्चर की गति से जा रहा था कि लाहौरी गेट के पास ही एक आदमी मिला और उसने बड़े निरपेक्ष भाव से कहा—बाबूजी, आपने सुना! एक हवाई जहाज टूट कर गिर पड़ा है। आप नहीं जा रहे हैं? मैंने भी उपेक्षा भाव से कह दिया कि नहीं, मुझे जल्दी घर जाना है। वह आदमी चला गया। आगे चल कर एक आदमी और मिला। वह कुछ तीव्र गति से जा रहा था और कहता गया—'आइये, जहाज देखना है तो जल्दी आइये।' उसकी बात भी मैंने सुनी-अनसुनी कर दी। जब मैं रास्ते के बिलकुल निकट आ गया तो एक तीसरे आदमी ने कहा—आप नहीं जा रहे हैं? सब लोग जा रहे हैं। और मुझे उस ओर तीव्र गति से पांच या सात आदमी जाते दिखाई दिये। उनको देखकर मुझे विश्वास हो गया कि वास्तव में कुछ बात है।

हवाई जहाज तो मैंने चीलों की तरह मंडराते हुए बहुत देखे थे और अब भी देखता हूं। आगरे में तो अड्डा ही है। हवाई जहाज खड़ा हुआ भी देखा है किन्तु टूटा हुआ जहाज नहीं देखा था। साठ वर्ष की उम्र तक आदमी बालक ही बना रहता है। उसके बाद सांसारिक विषयों से उदासीनता आती हो तो आती हो। खैर, इन लगातार के औत्सुक्यवर्धक प्रश्नों ने बाल-कौतूहल पर शान चढ़ा दी। मैंने उससे पूछा, कितनी दूर है? उसने कहा, यहीं तो है कोई पचास कदम पर। मैं उसके साथ हो लिया। मालूम नहीं कि वह अपनी दिव्य दृष्टि से यह जान गया था कि मैं दार्शनिक हूं पर उसने रास्ते में दार्शनिक वार्तालाप प्रारम्भ कर दिया। 'बाबूजी' कोई नहीं जानता कि पल में क्या होने वाला है (मैं भी नहीं जानता था कि मेरे साथ क्या होगा)? बेचारे क्या सोचकर उड़े होंगे? रास्ते ही में मारे गये। उनके घर

के लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे? देखिये खुदा की कुदरत! क्या का क्या हो गया।

मेरी भी गति कुछ तीव्र हो गई थी। उसी के साथ उत्सुकता भी। जब हम लोग राजपथ से कुछ दूर आ गये तो दूसरी ओर से कुछ लोग लौटते दिखाई दिये। उसने उन लोगों से पूछा—जहाज देख आये। उनमें से एक ने कहा—उस जहाज को एक और जहाज उड़ा कर ले गया। मेरे साथी ने कहा—इन अंग्रेजों के इन्तिजाम गजव के हैं। जहाज को गिरते देर न हुई कि उसे उठवा लिया। वे लोग अपने मरे हुए आदमी को भी पब्लिक को दिखाना नहीं चाहते। खैर, लौट चलिये।

मैं भी समय के खराव होने पर मन में पछताता-सा लौटा। इतने में एक और आदमी कुछ ताश का-सा तमाशा करता दिखाई दिया। मेरे साथी ने कहा—आइये, जरा देर इसी को देख लीजिये। मैंने कहा कि भाई, ताश का मैं शौकीन नहीं हूं।

वह आदमी साहित्यिक नहीं था, नहीं तो उसे इस सम्वन्ध में लिखी हुई अपनी इकलौती कविता सुना देता। उसको कविता सुनाना तो भैंस के आगे बीन वजाना होता। बीन का शौकीन तो सांप होता है। खैर, मैं आपको सांप नहीं वनाता। फिर भी मेरी कविता सुन लीजिए। दो-चार मिनट और मैं अपनी बेवकूफी के उद्घाटन से बच जाऊं तो अच्छा है। हां सुनिये—

तास छुए नहीं हाथन सों, सतरंजहु में नहिं बुद्धि लगाई।
टेनिस गेम सुहाए नहीं, फुटबालहु पै नहिं लात जमाई।।
केरम मर्म न जानहुं, क्रीकट कन्दुक देखत देत दुहाई।
जीवन का सुख पायु न रंचक, लेखन में निज वैस[1] गमाई।।

उसने कहा—खेल न देखिये, तो न सही, दो-चार रुपये की रेजगारी ही लेते जाइये। दिल्ली में रेजगारी की बड़ी दिक्कत रहती है। (उन दिनों रेजगारी का वास्तविक अभाव था) रेजगारी के मोह को मैं संवरण न कर सका। 'परो अपावन ठौर में कंचन तजै न कोइ'। उन दिनों रेजगारी का मिल जाना पड़े हुए धन के बराबर ही था, मैं उधर को मुड़ दिया।

देखा तो एक आदमी ताश वाले से पांच रुपये ले रहा था और दूसरा उसे बधाई दे रहा था—भाई, तेरी तकदीर तो सिकन्दर निकली।

मेरे साथी ने कहा कि वाबूजी को रेजगारी दो। कितने की है? उसने कहा कुल तीन रुपये की।

---

1. वैस=आयु, जीवन।

दूसरा आदमी रेजगारी गिनने लगा। मैंने बटुए से दस रुपये का नोट निकाला। एक और आदमी ने कहा कि सात रुपये आप भी दाव पर लगा दीजिये। दाव सिर्फ इतना ही था कि एक खास पत्ता जो वह पहले से दिखा देता था बिछे हुये पत्तों में से उठा लेना। मैंने कहा—नहीं भाई! मैंने आज तक जुआ नहीं खेला है।

मेरे साथी ने कहा—यह जुआ नहीं है। अक्ल का खेल है। फिर उसने ताशवाले को कहा—पत्ते बिछाओ। बाबूजी की तरफ से मैं उठाऊंगा। मैं जिम्मेदार हूं।

उसने पत्ते उठाये पर वह पत्ता नहीं आया। तीन की रेजगारी देकर मेरा दस का नोट हड़प लिया गया। ताश वाले ने बड़े दैन्यभाव से कहा सबेरे से खो रहा हूं। अब मेरे मुकद्दर ने भी जोर मारा है।

मैं ठगों की उस दुनिया में न्याय किससे कराता? मैंने साथी से कहा—तुमने जिम्मेदारी ली थी। मेरे रुपये दो।

"'बाबू साहब' अबकी बार दाव चूक गया। लेकिन आइये मेरे साथ। अबकी बार। ऐसी तरकीब बतलाता हूं कि सोलह आना आपकी बाजी रहेगी। सात गये हैं, दस दिलवाऊंगा।"

उसने मुझे एक-तरफ ले जाकर जेब से पेन्सिल निकाली और ताश की पीठ पर एक गुणा का सा निशान लगा दिया। तीन के लाभ का लालच तो न था, सात वापिस लौटने का जरूर मोह था। मैंने उससे कह दिया—तीन रुपये तेरे हैं। मुझ में जुआरी की मनोवृत्ति आ गई। इस बार उसने कहा—फिर आप मुझे दोष देंगे। पत्ता आप ही उठाइये।

पत्ते को हाथ लगाने से पूर्व ताश वाले ने बड़ी ईमानदारी से कह दिया अगर आपके पास रुपये हों तो हाथ लगाइये। नहीं तो किसी दूसरे को उठाने दीजिये। मैं फिर भी न चेता। पत्ता मैंने उठाया। उस पर गुणा का निशान अवश्य था। किन्तु वह पत्ता नहीं था। मैं हाथ मलता रह गया। मेरे साथी ने बड़ी निराशा की मुद्रा धारण कर कहा—बाबूजी आपने अपने खोये सो खोये, मेरे भी तीन खोये।

इस बार मैं किसको दोष देता और किससे फरियाद करता? सत्रह रुपये खोकर अनुभव मोल लिया। तीन रुपये आगरे लौटने के लिए काफी थे। मैंने दिल्ली में किसी से यह हाल नहीं कहा। हारे जुआरी की भांति घर लौटा। एक लाभ अवश्य हुआ कि कबीर की नीचे की पंक्ति का भाव एक सजीव चित्र के साथ समझ में आ गया। कल इस पंक्ति को पढ़ते ही यह घटना याद आ गई थी—

"कहें 'कबीर' अन्त की बारी, हाथ झारि के चले जुआरी।"

*****

मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ

'बद अच्छा बदनाम बुरा'—कवि, लेखक और दार्शनिक प्रायः इस बात के लिए बदनाम हैं कि वे कल्पना के आकाश में विचरा करते हैं; उनके पैर चाहे जमीन पर रहें, किन्तु निगाह आसमान की ओर रहती है और वे झोंपड़ियों में रह कर भी ख़्वाब महलों के देखा करते हैं। न्याय-शास्त्र के कर्त्ता अक्षपाद गौतम एक दिन विचार करते-करते एक गड्ढे में गिर पड़े थे। भगवान ने दया करके उनके पैरो में आंखें दे दी थीं, इसलिये कि वे ऊपर को आंख किए हुये भी पैर पास के गड्ढों और कांटों को देख सकें। तभी से उनका नाम अक्षपाद हो गया। आजकल के दार्शनिकों को ईश्वर में विश्वास नहीं, नहीं तो शायद उनके पैरों में भी आंखों के जोड़े निकल आते। आजकल पैरों की तो क्या सर की आंखों के भी लाले पड़े रहते हैं। अक्षपाद तो अतीत काल की विभूति थे, किन्तु आधुनिक काल में भी कुछ लोग तो अवश्य अपने चरित्र से दुनिया की धारणा को सार्थक करते रहते हैं। वास्तव में कोई अकारण बदनाम नहीं होता। ऐसे लोग दीन-दुनिया से बेखबर रहकर तीन लोकों से न्यारी अपनी मथुरा बसाया करते हैं और अकबर के शब्दों में सारी उम्र होटलों में गुजार कर (बढ़िया होटलों में नहीं) मरने को अस्पताल चले जाते हैं। इनमें से कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जिनका अन्तः (घर) और बाह्य (सामाजिक जीवन) एक-सा है। उनको न बच्चों की टें-टें-पें-पें से काम और न दुनिया के करुण-क्रन्दन से मतलब, क्वेटा का भूकम्प हो और चाहे बंगाल का दुर्भिक्ष, राष्ट्र बिगड़े या बने, उनको अपने सोटे-लंगोटे में मस्त पड़े रहना; न वे ऊधो के लेन में रहे हैं और न माधो के देन में। वे अपनी कल्पना के कल्पतरु के नीचे बैठ कर अपनी विश्वामित्री सृष्टि रचा करते हैं; सो भी जब मौज आई, नहीं तो वे कल्पना करने का भी कष्ट नहीं करते।

कुछ लोग ऐसे हैं जिनको घर की तो परवाह नहीं, बच्चों के लिये दवा हो या न हो, घर में चूहे नहीं आदमी भी एकादशी करते हों, बेचारी धर्मपत्नी नैयायिकों के अनुमान का प्रत्यक्ष आधार स्वरूप आर्द्रेन्धन (गीले ईंधन) और अग्नि के संयोग से उत्पन्न धुएं में अग्निहोत्री ऋषियों की भांति आरक्त-लोचन (धुएं के अतिरिक्त क्रोध से भी) बनी रहती हो, किन्तु

उन्हें सभाओं के संचालन और नेतापन से काम। घर में उनके पैर, जाल में पड़ी हुई मछली की भांति फटफटाया करते हैं किन्तु बलिहारी कन्ट्रोल की उनको भी आटे-दाल का भाव आलंकारिक रूप से नहीं बल्कि उसके शब्दार्थ में भी मालूम पड़ गया है। मेरे एक दार्शनिक मित्र (श्री पी.एम. भम्मानी) उस रोज शक्कर का पारिवारिक अर्थशास्त्र बतला रहे थे। मुझे उन्हें चीनी की समस्या से विचलित होते देखकर आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा भाई, यह कन्ट्रोल मुझे भी आसमान से नीचे उतार लाया और मैं भी अब नौन-तेल-लकड़ी की बाधा के चक्कर में पड़ गया हूं। (ईश्वर को धन्यवाद है कि अब कन्ट्रोल की बाधा नहीं रही)।

मैं उपर्युक्त गृहत्यागी वर्ग की गगनचुम्बी सीग्ग को स्पर्श कर लेता हूं किन्तु पारिवारिकता के क्षेत्र से बाहर नहीं आ सका हूं। पारिवारिक जीवन में सामाजिक जीवन का समन्वय करना कभी-कभी बड़ी समस्या हो जाती है। ऐसा हाल प्रायः बहुत से लेखकों का होगा। परिवार में जन्म लेकर उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। कुछ लोग परिवार में जन्म लेते हैं किन्तु परिवार बनाने का पाप अपने ऊपर नहीं लेते हैं। ऐसे व्यक्ति यदि वे अगला जन्म धारण करेंगे तो टेस्ट-ट्यूब बेबीज के रूप में प्रकट होंगे। विज्ञान और समाजशास्त्र निष्पारिवारिकता की ओर जा रहा है, किन्तु हम लोग भारतीय संस्कृति के बन्धन में पले हैं, पारिवारिकता के बन्धन से बाहर नहीं जा सकते हैं—उसमें गुण भी हैं और दोष भी। शुद्ध दूध में भी तो 60 प्रतिशत से अधिक पानी होता है। उस पानी के विना शायद वह दूध हज़म भी न हो। अबोध शिशुओं के तो गले भी न उतरे। पाप-पुण्य, दिन-रात की भांति पारिवारिक-जीवन भी गुण-दोष मय है। दोषों की मैं कमी अवश्य चाहता हूं किन्तु उस वैद्य की भांति नहीं हूं जो ऐसी दवा दे जिसमें न मर्ज रहे और न मरीज। अस्तु इसी पारिवारिकता-पारायण और सामाजिकता के लिये मनोरथ शील मछुए जैसे मुझ उभय जीवी प्राणी की दैनिकी का एक पृष्ठ पढ़ने की पाठकगण कृपा करेंगे।

तारीख 21 सितम्बर सन् 45 (केवल यही पृष्ठ लिखकर मैं घबड़ा गया था, वास्तविकता की पुनरावृत्ति मैं नहीं चाहता हूं)

प्रातःकाल 4 बजे (लिंलिथगो टाइम से) उठा। अपने 'सिद्धांत और अध्ययन' शीर्षक पुस्तक के लिये 6 बजे तक पढ़ा (मैं उन लोगों में से हूं जो अपने निजी निबन्धों के लिये विना कुछ पढ़े नहीं लिख सकता, वास्तव में मेरे लेखन में एक तिहाई दूसरे से पढ़ा होता है; एक बटा छह उसके आधार से स्वयं प्रकाशित और ध्वनित विचार होते हैं, एक बटा छह सप्रयत्न सोचे हुये विचार होते हैं और एक तिहाई मलाई के लड्डू की बर्फी बना चोरी को छिपाने वाली अभिव्यक्ति की कला रहती है) छः से सवा छः तक कागज, कलम, सियाही जुटाने में खर्च किया। घर की अव्यवस्था ही मेरे घर की व्यवस्था रहती है। जिस दिन मैं

कुछ नहीं पढ़ता-लिखता उसी दिन मेरी मेज सजी-सम्हली पड़ी रहती है। आठ बजे तक मध्ये-मध्ये आचमनीयम् तथा पुंगीफल खंडों के विराम-चिन्हों सहित लिखा।

नौ बजे तैयार होकर प्रूफ की तलाश में प्रेस गया, अक्षर भगवान को छछियाभर छाछ के बजाय बेलन के बल, जगत की कालिमा मिलाकर, उंगलियों पर नचाने वाले कम्पोजीटर देव की अनुपस्थिति में काट-छांट की और प्रूफ भी घटाया बढ़ाया। इस प्रकार उनकी झूंझल का सामान कर बाजार गया। वहां पहुंचते ही शेखर के अन्तिम दिन की भांति घर के सारे अभावों का ध्यान आ गया। किन्तु बाजार में कोई स्थान नहीं है जहां कल्पवृक्ष की भांति सब अभावों की एक साथ पूर्ति हो जाय। अगर अच्छा साबुन राजामण्डी में मिलता है तो अच्छा मसाला रावतपाड़े में। किन्तु वहां भैंस के लिए भूस का अभाव था। बाल बच्चों की दवा के बाद अगर किसी वस्तु को मुख्यता मिलती है तो भैंस के भुस को, क्योंकि उसके बिना काले अक्षरों की सृष्टि नहीं हो सकती। मेरी काली भैंस धवलदुग्ध का ही सृजन नहीं करती, वरन् उसके सदृश ही धवल यश के सृजन में भी सहायक होती है। इस गुण के होते हुए वह मेरे जीवन की एक बड़ी समस्या हो गई है। मैं हर साल उसके लिए अपने घर के पास के खेत में चरी कर लेता था। इस साल वर्षा के होते हुए भी मेरे यहां चरी नहीं हुई—'भाग्यं फलति सर्वत्र, न विद्या न च पौरुषं।' मेरे पड़ोसी के ईर्ष्याजनक लहलहाती खेती है। मेरी भैंस को उस खेती से ईर्ष्या नहीं वरन् सच्चा अनुराग है, वह सच्चे भक्तों की भांति गृह बन्धनों को तोड़कर अपने प्रेम का आक्रमण कर देती है। जितना वे उसे भगाते हैं उतनी ही उनकी चरी रोंधी जाती है और जितनी उनकी चरी रोंधी जाती है उससे अधिक उनका दिल दुखता है। मालूम नहीं इसको अलंकारशास्त्र में असंगति कहते हैं या और कुछ। घाव लक्ष्मणजी के हृदय में था और पीर रघुवीर के हृदय में, वैसे ही रोंधी चरी जाती थी और दुख मेरे पड़ोसी महोदय के हृदय में होता था।

मैं संघर्ष में पड़ता नहीं, किन्तु कभी-कभी इच्छा न रखते हुए भी संघर्ष बड़ा तीव्र हो जाता है। बच्चों के दूध और पड़ोसी के साथ सद्भावना में ऐसा अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है जो शायद प्रसादजी के नाटकों में भी सहज ही न मिले। खैर, आजकल उसका दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी न पिला सकने की विवशता की झूंझल के होते हुए (सुरराज इन्द्र की तरह) मुझे भी मठा दुर्लभ हो गया है। (तक्रं शक्रमपि दुर्लभं) उसके लिए भुस लाना अनिवार्य हो जाता है। कहां साधारणीकरण और अभिव्यंजनावाद की चर्चा और कहां भुस का भाव? भुस खरीद कर मुझे भी गधे के पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है जैसे बहुत से लोग अकल के पीछे लाठी लेकर चलते हैं। कभी-कभी गधे के साथ कदम मिलाये रखना कठिन हो जाता है, (प्रगतिशीलता में वह मुझसे चार कदम आगे रहता

है) लेकिन मुझे गधे के पीछे चलने में उतना ही आनन्द आता है जितना कि पलायनवादी को जीवन से भागने में। बहुत से लोग तो जीवन से छुट्टी पाने के लिए कला का अनुसरण करते हैं किन्तु मैं कला से छुट्टी पाने के लिए जीवन में प्रवेश करता हूं। 11 बजे बाजार हाट से भैंस के लिए भुस और अपने लिए शाक-भाजी लेकर लौटा, स्नान किए, भोजन किया, और करीव-करीव साढ़े बारह बजे कॉलिज पहुंचा। लड़कों को पढ़ाया या बहकाया—मैं गलत पढ़ाने का पाप नहीं करता किन्तु जो मुझे नहीं आता उसे कभी-कभी कौशल के साथ छोड़ देता हूं। यदि कोई छन्द इम्तहान में आने लायक हुआ तो मैं बेईमानी नहीं करता।

कॉलेज की लाइब्रेरी से कुछ पुस्तकें लीं और फिर साहित्य सन्देश के दफ्तर आया। वहां जलपान किया, जल पीकर पान खाया। कभी-कभी रुढ़ि अर्थ में भी जलपान करता हूं और कभी शुद्ध अभिधार्थ में जल का पान करता हूं। कम्पोजीटर की शिकायत सुनी, दीन शराव की सी तोबा की कि अव न घटाऊंगा-बढ़ाऊंगा। आप लोगों को कष्ट अवश्य होता है। अनुनय विनय की ('अवलौं नसानी अव न नसैहों') किन्तु क्या करूं आदत से मजबूर हूं। बनियों की पाछिल बुद्धि होती है, लिखने के बाद कहीं प्रूफ पढ़ने पर ही शोधन सूझते हूं। प्रूफ पढ़े। कम्पोजीटरों से बढ़ कर स्वयं झूंझल का शिकार बना। चार बजे घर लौटा। अभावों की नई गाथा सुनी; घर की भूली हुई समस्याएं सामने आईं। खूंटा उखाड़ कर भैंस भाग गई थी, उसकी सांकल किसी ने उतार ली है; क्या फिर दुवारा बाजार जाऊं? इसी संकल्प-विकल्प में दुग्धपान किया। रात्रि में जल के मार्जन और आचमन से निद्रा देवी का जो तिरस्कार किया था, उसका प्रायश्चित किया। उठ कर भाई को पत्र लिखा।

रमणीयता के सम्बन्ध में हमारे यहां कहा गया है कि 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति रूपं रमणीयतायाः' जो क्षण-क्षण में नवीनता धारण करती रहती है। ये मेरी कल्पना से भी चार कदम आगे रहती हैं। फिर मैं उनको सुन्दर क्यों कहूं। शास्त्रीय परिभाषा के बाहर मैं नही जा सकता। आज किसी ने भैंस की जंजीर चुराली तो कल पड़िया ने खेत खा लिया। मेरी शान्ति भंग करने के लिए एक नया एटम बम्ब सेज तैयार रहता है। किसी को बुखार आ गया तो किसी के दांत में दर्द है। कभी चीनी राशन की मर्यादा को पार कर गयी तो कभी कपड़ों की चर्चा। सर्वोपरि लड़ाई के दिनों में सुरसा के मुख की भांति बढ़ते हुए खर्चों के कलियुग में श्रद्धा भांति की घटते हुए बैंक शेष को बौद्धों के परम तत्व (शून्य) की गति से बचाने की फिक्र। धन भी हो या तो वस्तु का अभाव। कपड़ों के सम्बन्ध में डिस्ट्रिक्ट सप्लाई आफीसर से मिलने का संकल्प किया, घर में इधर-उधर की वार्तालाप की। सायंकाल को अपने पड़ोसी द्विवेदीजी के यहां बैठ कर स्त्रियों के वेदाध्ययन के अधिकार पर चर्चा की। (यद्यपि मेरे घर में किसी के वेद पढ़ने की आशंका नहीं, फिर भी शहर के अंदेशे में

परेशान होने में कुछ ट्रेजडी के पढ़ने का आनन्द आता है।) मैंने कहा कि जब स्त्रियों में मंत्र दृष्टा हैं तो उनको वेदों के पढ़ने का अधिकार क्यों नहीं? उन्होंने कहा जो शास्त्र में लिखा है वह लिखा है, उसमें संगति लगाने और तर्क उठाने की गुंज़ाइश नहीं। विचारों में घोर मतभेद होते हुए भी कटुता की सीमा तक नहीं पहुंचता। और मैं उनके यहां बैठकर 'काव्यशास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीमताम्' की[1] उक्ति को सार्थक करता रहता हूं।

रात को सवेरे को साहित्यिक चोरी के लिए कुछ पढ़ा। बच्चों से वार्तालाप किया। कुछ मनोविनोद हुआ।[2]

कभी-कभी जब वे करुण रौद्र, या वीर रस का लौकिक प्रदर्शन करने लगते हैं तब मुझे प्रसाद की निम्नलिखित पंक्तियों की सार्थकता समझ में आने लगती है :

ले चल, वहां भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,

---

1. कुछ न कुछ मनोविनोद का सामान दूसरे तीसरे दिन उपस्थित हो ही जाता है। एक रोज एक बच्चा गा रहा था 'दुनिया में कौन हमारा' तो दुसरे ने तुक मिलाई 'पापा प्यारे शशी उतारा।'

2. इस दिनचर्या में थोड़ा परिवर्तन हो गया। भैंस के प्रति तुलसीदास जी कैसा अनन्य भाव रखते हुए भी अब भैंस के स्थान पर गाय पाल ली है। समस्याएं तो करीब-करीब वे ही हैं। आजकल मेरे पड़ोसी के यहाँ घास अच्छी है—वैसे भी पराई पत्तल का भात अच्छा लगता है—उस पर आक्रमण होता है। समय पड़ने पर मैं रघुवंश (215) में वर्णित महाराजा दिलीप के पूरे कार्यक्रम का अनुकरण करता हूँ—"आस्वादवद्भिकवलैस्तृणानां कण्ड्रयनैर्दंशनिवारणैश्च" अर्थात् घास के सुस्वाद ग्रासों से खुजलाने से और डाँस उड़ाने से मैं उसे प्रसन्न करना चाहता हूँ, केवल एक बात की कसर रह जाती है—मैं उसकी अव्याहत स्वच्छंद गति में सहायक नहीं हूं और यह नहीं कह सकता 'अव्याहत स्वैरगतैः' क्योंकि उनके स्वच्छन्द विचरण में पड़ौसियों के विनम्र परन्तु तीखे उपालम्भों का भय रहता है। मैं 'यदि सम्राट न होता तो उसकी अबाधित गति पर आक्षेप करने का किसी को साहस न होता। उसके लिए मुझे अब बाजार नहीं जाना पड़ता। बाजार हाट का बहुत सा काम अब मेरा कनिष्ठ पुत्र विनोद कर लेता है। गाय भी ठल्ल है। अब मैं उसे कर्तव्य बुद्धि से पाले हुए हूँ किन्तु पड़ोसियों की फुलवारी की रक्षा हेतु उसकी विदा देनी पड़ेगी। मुझे अपनी फुलवारी की तो विशेष परवाह नहीं है क्योंकि वह तो शुद्ध व्यसन के रूप में किये हुए हूँ। शारीरिक शैथिल्य के कारण मैं स्वयं उससे हाथ नहीं लगाता। इससे उसके प्रति विशेष मोह भी नहीं है। कम्पोजीटर अब भी मुझ से परेशान हैं। उनकी परेशानी दूर करने के लिये मैंने एक सहायक रख लिया है। उसको मेरे अस्त व्यस्त लेखों से शुद्ध कापी तैयार करनी पड़ती है। प्रेस कापी भी मेरे आक्रमण से नहीं बचती। उसमें भी संशोधन होते हैं और कम्पोजीटर देवों के लिये मुसीबत हो जाती है। इस हेतु कभी-कभी कुछ न करने की ऊब से परेशान हो जाता हूँ यह दुख और कुछ-कुछ प्रसन्नता की बात है कि औरों को जिनसे मेरा मन रम सकता है इतना अवकाश नहीं कि वे मेरे खाली समय में आकर गपाष्टक लगावें और मैं ऊब को दूर करें।

अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

बच्चों को मैं पढ़ाता बहुत कम हूं। यहां तक कि मेरे बच्चे भी मुझ पर इस बात का व्यंग्य करने लगते हैं। मेरे एक शिष्य प्रवर ने (जब आचार्य प्रवर कहलाते हैं, तो शिष्य भी प्रवर कहलाने चाहिये) किसी प्रसंग से कहा, हम तो आपके बच्चे हैं आपका आशीर्वाद चाहते हैं। मेरे कनिष्ठ पुत्र विनोद ने जिसकी आयु प्रायः बारह साल की है, तुरन्त उत्तर दिया, 'आप अगर बाबूजी के बच्चे बनेंगे तो वे आपको पढ़ाना छोड़ देंगे, क्योंकि आप बच्चों को नहीं पढ़ाते हैं।' यही मेरे पारिवारिक जीवन की कमी है। वैसे इन झंझटों के होते हुए भी अत्यन्त सुखी हूं। चारों ओर अनुकूलता और आज्ञाकारिता है। मैं हृदय की सच्चाई से कह सकता हूं कि जन्म जन्मान्तर में भी मेरा जन्म इसी परिवार में हो। मैं मोक्ष के लिये उत्सुक नहीं हूं।

*****

'शरीरं व्याधि-मन्दिरम्'

कहैं यहै श्रुति स्मृत्यौ, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक हो, पातक, राजा, रोग।।

यद्यपि मैं अभी 'अंगं गलितं पलितं मुण्डम्, दशन विहीनं जातं तुण्डम्, करधृतकम्पित शोभित दण्डम्' वाली श्री शंकराचार्यजी द्वारा की हुई वृद्ध की परिभाषा से कम से कम दो तिहाई अंश में (अंग तो ईश्वर की दया से सब बराकरार हैं, बाल जरूर पक गये हैं और अभी ऊपर से ही वेदान्ती हुआ हूं नीचे के दांतों को क्षति नहीं आई है) दूर हूं और इस भय से कि कोई यह न कह दे कि 'वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्' मैं दण्ड धारण भी नहीं करता (मुझे दण्ड में बहुत विश्वास नहीं है, दण्ड धारण करने से बचने के लिए मैं यती भी नहीं बनूंगा, वैश्यों को वैसे भी संन्यास वर्जित है) फिर भी अपने को निसक्त अर्थात् शक्तिहीन कहने में अधिक संकोच नहीं करता हूं क्योंकि मैं शाक्त नहीं हूं। दूसरों को क्षति पहुंचाने की शक्ति के सम्बन्ध में खेद के साथ कहना पड़ता है कि 'अब रहीम वे नाहिं'। इसलिए निशक्त होकर यदि पातक राजा रोग इन तीनों में से किसी का भी शिकार बनूं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पातक मुझ से दूर तो नहीं भागते, क्योंकि पातक भागने के एकमात्र अस्त्र का मैं प्रयोग नहीं कर सकता हूं। साहित्यिक होने के नाते मुझे पुनरुक्ति का इतना भय है कि महाकवि केशवदास के यह कहने पर भी कि 'जानि यह केशोदास अनुदिन राम राम रटत, न डरत पुनरुक्ति को' मैं राम नाम नहीं लेता। किन्तु मेरे बैंक की बाकी की भांति मेरे पातकों के आंकड़े बहुत बढ़े-चढ़े नही हैं। भगवान चित्रगुप्त के खाते ने मेरे पापों की ओर शून्य का अंक तो नहीं हैं। (मैं शून्यवादी नहीं हूं) किन्तु मुझे विश्वास है कि मेरा हिसाब-किताब करते उनको थकावट का अनुभव न होगा और न वे अपने और कामों को भूल जायेंगे।

मैं सूरदासजी की भांति 'सब पतितन को टीको' या राजा बनना नहीं चाहता और न साम्यवादी युग में किसी बात के राजा होने का गर्व ही कर सकता हूं। सूरदासजी की ऐसी उक्तियों के कारण तो हमारे प्रगतिशील भाई कह देते हैं कि सूर पर सामन्तशाही का प्रभाव

था। आजकल गांधीयुग में राजा और भंगी की परिभाषा बदल जानी चाहिये। यदि मैं किसी विधान-सभा का मेम्बर होता तो सबसे पहले यह कानून बनवाता कि कोई बच्चों को बढ़ावा देने के लिए राजा और उनको बुरा बतलाने के लिए भंगी न कहा करे। खुदा गंजे को नाखून नहीं देता, फिर भी और कोई साहब इस विचार से लाभ उठा सकते हैं, मैं इसको पेटेण्ट नहीं कराऊंगा, वैसे भी देवताओं की भांति पतितों में कौन छोटा और कौन बड़ा? पातकों से मै अछूता तो नहीं हूं किन्तु उनकी विशेष परवाह नहीं है, 'अब तो चैन से गुजरती है आकबत की खुदा जाने'।

राजाओं ने मुझे तो नहीं सताया है किन्तु कभी-कभी राजसत्ता के विरुद्ध मानसिक मूक विरोध कर लेता हूं। काजी की भांति शहर के अन्देशे से अपने शरीर के दो चार बूंद खून को सुखा देता हूं किन्तु जेल जाने के भय से विरोध कभी मुखरित नहीं हुआ।

हां! रोग के सम्बन्ध में सच्चे सपूत की भांति मैं भारतवर्ष का प्रतिनिधित्व कर रहा हूं। जिस प्रकार वृद्ध भारत ने विभिन्न आक्रमणकारियों को थोड़े-बहुत अवरोध और प्रतिरोध के साथ अपने विशाल वक्षस्थल पर स्थान दिया उसी प्रकार समय-समय पर प्रादुर्भूत रोगों को थोड़े-वहुत प्रतिरोध के साथ मैंने भी अपने शरीर में आश्रय दिया है। वे हिन्दू परिवार के अतिथि की भांति बिना सूचना दिये आते हैं और रियासती मेहमान की भांति टाले नहीं टलते। ब्रिटिश सरकार की भांति वे जमे रहने का एक न एक बहाना ढूंढ निकालते हैं। ब्रिटिश चाहे एक दफा भारत को छोड़ भी दें किन्तु उन रोगों का मेरे शरीर से अधिकार हटाने की बात सोचना भी दुष्कर है। नरम दल के लीडरों की भांति उनसे समझौता करने में ही मैं अपना परित्राण समझता हूं।

जिस प्रकार एक देव मन्दिर में देवता तो वहुत से होते हैं किन्तु प्रधान पद पर एक ही देवता प्रतिष्ठित होता है अथवा राजनीतिक उपमान चाहिए तो यों कह लीजिए कि जिस प्रकार एक राष्ट्र में छोटे-पूरे बहुत से राज्य हो सकते हैं किन्तु प्रधान सत्ता एक ही होती है, उसी प्रकार मेरे शरीर में रोग तो बहुत हैं किन्तु ब्रिटिश सत्ता की भांति प्रधान सत्ता मधुमेह की ही है। 'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति' सब देवता एक ही देवाधिदेव के रूप हैं। मैं रसवादी हूं इसलिए रसशास्त्र से उपमा दूंगा। 'एको रसः करुण एव' कह कर भवभूति ने जो बात करुणरस के सम्बन्ध में कही है वही बात कुछ हेर-फेर के साथ रोगों के सम्बन्ध में मैं इस प्रकार कह सकता हूं। मुख्य रोग तो मधुमेह ही है और रोग उसी एक जल के तरंग बुद्‌बुद और आवर्त (भंवर) की भांति है। भंवर शब्द से विशेष भय लगता है क्योंकि भंवर में तैराक भी डूब जाते हैं और नाव में बैठकर भी त्राण नहीं मिलता है। रस की व्यापक परिभाषा में कहूं तो मधुमेह स्थायीभाव है और सब रोग उन स्थायीभावों की भांति हैं जो किसी प्रधान

रस के अंग होकर संचारी रूप से आते हैं।

मुझे दरअसल राजा और रोग तो नहीं सताते किन्तु मधमेुह का राजरोग अवश्य तंग करता है। इसको मैंने पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त किया है। अपने पूज्य पितृचरण के गुण तो वाजिवी मात्रा में ही मुझे मिले हैं किन्तु उसकी कमजोरियां ब्याज के साथ मिली हैं। इस रोग से देवता और पितृ कोई मुक्त नहीं है। आदिदेव गणेशजी कपित्थ-जम्बूफल का सेवन करते हैं। (गजानन भूतगणादि सेववितम्, कपित्थ जम्बूफल चाहि भक्षणम्) शिवजी विल्वपत्र इसी रोग के उपचार में ग्रहण करते हैं। पितृगण इसी रोग के कारण तिलोदक से प्रेम करते हैं।

इसी राजरोग और उसके अनुचरों के वर्णन से पूर्व उन रोगों का उल्लेख कर देना मैं आवश्यक समझता हूं जो नैमित्तिक रूप से समय-समय पर आते हैं। इनकी मैं विशेष परवाह नहीं करता हूं। वे भिक्षुक की भांति चुटकी भर आटे से सन्तुष्ट होकर चले जाते हैं। जब तक ये शैयादेवी से स्थायी परिणय करा देने की धमकी नहीं देते तक तब मैं इनका ईश्वर प्रदत्त अस्थायी विश्राम या अवकाश के रूप में स्वागत करता हूं। अस्थायी विश्राम को मैं मृत्यु का पर्याय समझता हूं। इन रोगों में ज्वर, खांसी, जुकाम आदि सामयिक रोग हैं। इनके लिए यथासम्भव मैं डाक्टर को कष्ट नहीं देता। इनके लिये तो तुलसी की वैष्णवी चाय सुदर्शन चक्र का काम दे जाती है।

मधुमेह स्वयं तो इतना भंयकर नहीं होता जितने कि उसके अनुचर। इसका गोस्वामी तुलसीदासजी को पूरा अनुभव था। उन्होंने लिखा है कि हाथ के प्रहार से उनके अनुसार कृपाण का प्रहार अधिक घातक होता है। अनुचरों के वर्णन से पूर्व स्वामी का वर्णन करना नीति संगत होगा। मधुमेह से तो अब प्रायः सोलह वर्ष का नाता हो गया है। उसकी गतिविधि को मैं समझने लगा हूं। इसके तीन उपचार हैं। 1-रसना का संयम, 2-भ्रमण, 3-सूचिकावेध (Injection) कभी कभी मूत्र परीक्षा भी करा लेता हूं जिसके परिणाम के लिये हाईस्कूल के परीक्षार्थी की अपेक्षा कुछ कम उत्सुक रहता हूं।

रसना का नियंत्रण जितना डाक्टर बतलाते हैं उतना तो मैं सौ जन्म भी न कर सकूंगा, किन्तु अति सर्वत्र वर्जयेत के नियम का मैं अवश्य पालन करता हूं। मैं न तो षटरसों की सूची से मधुर का नाम ही उड़ा देना चाहता हूं और न मैं व्यवस्थापक सभा द्वारा सत्यनारायणज़ी की कथा विधान में यह संशोधन कराने की सोचता हूं कि मधुमेही लोग भगवान को मीठी पंजीरी के स्थान में नमकीन पंजीरी अर्पण कर सकते हैं। रसना के माधुर्य की चाह रूप-माधुर्य की लालसा की भांति नितांत दुर्जेय तो नहीं है किन्तु उसका भी आकर्षण उपेक्षणीय नहीं

है। मैं अपने ऊपर इतना सहज संयम अवश्य कर लेता हूं कि पानी, मठे या दही के स्वाभाविक स्वाद को शक्कर डालकर बिगाड़ूंगा नहीं। मैं उन लोगों में से नहीं जो सेकरीन डालकर शरबत पीने की हबिस को पूरा करते हैं। दूध में तो मैं केवल उतनी ही शक्कर डालता हूं जितनी कि कोई भला आदमी बिना आत्म-सम्मान खोये झूठ बोल सकता है अथवा गद्य में संगीत को स्थान मिल सकता है। शक्कर को मैं कभी इतना मान नहीं देना चाहता कि वह दुग्ध के स्वाभाविक सुस्वाद को दबा दे। मिष्ठान्न को जौक या गालिब की शराब की भांति कभी-कभी मुंह का जायका बदलने के लिए खाता हूं, वह भी कब कि कहीं मुफ्त में मिल जाय (मैं आफत मोल लेना नहीं चाहता)। मिठास की चाह स्वाभाविक है किन्तु मुझे तो धर्म के आदि व्याख्याता मनु महाराज की भांति यही कहना पड़ता है कि 'प्रवृत्तिरेषां भूतानां निवृत्तिस्तु महाफलः' तंत्रीनाद कवित्त में अनबूढ़े चाहे बूढ़ जायं किन्तु शर्करा के मधुर-रस में अनबूढ़े ही तिरते हैं। इसीलिए मैं पढ़ाने की ब्राह्मणवृत्ति धारण करके भी मधुरप्रिय होने की वृत्ति से यथासम्भव बचा रहा हूं।

अकाल पीड़ित की भांति अन्न को भी जरा संकोच के साथ खाता हूं। सरकार ने राशन में अन्न की मात्रा कमकर हम मधुमेहियों पर उपकार किया है। इसी पुण्य के कारण उसे जर्मनी और जापान पर विजय लाभ हुआ है। चावल खाना मुझे अधिक प्रिय है (शायद बंगाली सीख जाने के कारण) किन्तु उपनिषदों में बतलाया हुआ श्रेय और प्रेय का अन्तर भूला नहीं हूं। जो प्रेय है वह श्रेय नहीं है। श्रेय को अपनाने वाले का भला होता है और प्रेय को वरण करने वाला पतित हो जाता है:—'तयोःश्रेय आददानस्य साधुर्मवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते'। कठोपनिषद्। 1/2/1

शाक भाजी मैं कुछ अधिक मात्रा में खाता हूं यहां तक कि मुझे अपने जैनधर्मावलम्बी मित्रों से भी कहना पड़ता है कि मैं शाकाहारी हूं। मेरी समझ में जैन लोग पूर्णतया शाकाहारी नहीं होते। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे लोग मांसाहारी होते हैं वरन् यह कि उनको शाक से इतना प्रेम नहीं जितना कि मुझे। वे वर्ष में कई दिन शाकों से वियुक्त रह सकते हैं किन्तु मैं जलमीन की भांति शाकों का एक दिन का भी वियोग नहीं सहन कर सकता।

भ्रमण को अशक्त के व्यायाम रूप से मैं सदा पथ्य समझता आया हूं किन्तु अब रक्तचाप के कारण मैं उसके लाभ से वंचित हो गया हूं। फिर भी आवारागर्दी से चित्त बहुत प्रसन्न होता है। मैं ईश्वर को धन्यवाद देता हूं कि मुझे सम्पन्न नहीं बनाया, नहीं तो जो कुछ थोड़ा बहुत चल लेता हूं उससे भी वंचित हो जाता।

मधुमेह के लिए खाने की औषधियों की कमी नहीं। विज्ञापनदाताओं के कोष में असाध्य या असम्भव शब्द के लिए कोई स्थान नहीं, फिर भी अब मैं एलोपेथिक डॉक्टरों के साथ

यह विश्वास करने लगा हूं कि इन्सूलिन के इन्जेक्शनों के अतिरिक्त मधुमेह की कोई औषधि नहीं। वास्तव में सूचिकावेध से मधुमेह अमर रह कर भी निःसन्तान हो जाता है और रोगी उसकी सन्तति के आक्रमणों से बचा रहता है। इसीलिए जहां किसी नये रोग के दर्शन हुए मेरे गृहवैद्य और कभी-कभी गृहसचिव भी धन्वंतरि और अश्विनीकुमार के अवतार कर्पूर गौर करुणावतार डॉक्टर कपूर मुझे इंजेक्शन देना आरम्भ कर देते हैं। शर-शैया पर लेटे हुए भीष्म पितामह के शरीर में वीरवर अर्जुन ने इतने बाण नहीं बेधे होंगे जितनी कि डॉक्टर कपूर ने मेरे शरीर में सुइयां। वे मेरे शरीर को उसके शत्रुओं से सुरक्षित बनाये हुए हैं। (खेद है कि वे अब संसार में नहीं हैं।)

मधुमेह के अनुयाइयों में फोड़े-फुन्सियों को अधिक महत्व दिया जाता है। मैं भी उनके आक्रमणों से बचा नहीं हूं किन्तु उनके कारण मुझे शैयागत नहीं होना पड़ा। मैं अपने शरीर को यथा सम्भव चोट-फेंट से बचाता रहा हूं किन्तु मुझ जैसे लापरवाह आदमी को ब्रह्म रहित रहना उतना ही कठिन है जितना कि बालक को धूल-मिट्टी से बचाए रखना। कोई ऐसी यात्रा नहीं होती जिसमें थोड़ी-बहुत खुरच-खरोंट न आ जाती हो और उसके लिए मरहमपट्टी की नौबत न आती हो। मैंने बागवानी इसीलिए छोड़ सी दी है।

एक बार मधुमेह के ही फलस्वरूप मुझे बाहु-पीड़ा का सामना करना पड़ा तभी गोस्वामी तुलसीदास के पीड़ा सम्बन्धी वर्णनों के साथ मेरा भावतादात्म्य हो सका। महावीरजी में मेरा विश्वास न होते हुए भी कभी-कभी तुलसी की भांति पुकार उठता हूं।

साहसी समीर के दुलारे रघुवीर जू के,
बांह पीर महावीर बेगि ही निवारिये।

बात-रोग के शमन के लिए तुलसी के लिए तो समीर के दुलारे की पुकार ठीक ही थी। मैंने भी उनके सुर में सुर मिलाया किन्तु उसके अतिरिक्त और भी अनेकों उपचार किए। नाना प्रकार के तेलों से अपने शरीर को दुर्गन्धमय बनाया, निद्रा लाभ के लिए तकियों की न जाने कितनी लौट-फेर की, रात को मोरफिया का भी सेवन किया, किन्तु जिस प्रकार बिना जागरण के स्वप्न में अनुभव किये नाना प्रकार के रोगों का शमन नहीं होता उसी प्रकार बिना मधुमेह के बाहु पीड़ा का शमन न हुआ। अब बहुत दिनों के बाद उसकी पुनरावृत्ति हुई है। किन्तु उतने उग्र रूप में नहीं। चारपाई पर शान्त पड़े रहने में किसी पीड़ा का अनुभव नहीं होता। हाथ ऊपर उठाने का कष्ट अवश्य होता है किन्तु अब भी ईश्वर की दया से सीधे हाथ में इतनी शक्ति है कि मत (Vote) देने में हाथ उठाकर बाहुबल का प्रदर्शन कर सकता हूं। लाठी चलाने या ढेले फेंकने में मेरा हाथ बिलकुल असमर्थ है। गांधीजी के अहिंसावाद का अब मैं भली प्रकार पालन कर सकता हूं।

रक्तचाप (Blood Pressure) भी मधुमेह के फलस्वरूप मुझे प्राप्त हुआ है। बड़ा आदमी न बन सका तो बड़े आदमियों के रोग मुझमें अवश्य आ गये हैं। अगर गेहूं नहीं मिलता है तो भुस ही गनीमत है। इसके कारण पढ़ने-लिखने के अतिरिक्त चलने-फिरने से भी विराम-सा लेना पड़ा है। यह जीवित मृत्यु कभी-कभी असह्य हो उठती है। जीवन का अर्थ सांस लेना मात्र नहीं है। वरन् सक्रिय जीवन। उससे मैं वंचित-सा हो गया हूं। मैं चलता-फिरता हूं लेकिन चींटी की चाल से चलने से न चलना ही वेहतर है। पहले तो अधिक घूमने के कारण मेरे पैर में शनीचर सा लगा रहता था किन्तु अब भी शाब्दिक अर्थ में स्वयं शनैश्चर (धीरे चलने वाला) बन गया हूं। रक्तचाप शिवधनु की भांति औषधियों से टारे नहीं टरता किन्तु रसना के संयम से कुछ वश में आ जाता है। मधुमेह के लिये शर्करा का संन्यास करना पड़ता है और रक्तचाप में दाल और नमक को भी तिलांजलि देनी पड़ती है। कहां तो रहीम मीठे हूं पर लौन का जायका लेना चाहते हैं यहां डाक्टर लोग दोनों से हाथ धो बैठने की सलाह देते हैं। दाल खाना तो जैसे-तैसे कम कर दिया है किन्तु मीठा और नमक शाब्दिक अर्थ में और कुछ-कुछ आलंकारिक अर्थ में भी दोनों ही दुस्त्याज्य हैं।

रक्तचाप के पुच्छला के रूप में वक्षस्थल पर भी पीड़ा का अनुभव होने लगा है। उसकी उपेक्षा तो नहीं कर रहा हूं किन्तु रोगों की परवाह करने की भी एक सीमा होती है। चार-चार गोली रोज खाने पर भी वह टस से मस भी नहीं होता था। दो-तीन दिन बुखार आ जाने के कारण खाने-पीने का बरबस संयम करना पड़ा। खाली दूध और मुसम्मी के सहारे चारपाई पर तीन दिन काटे। उसके कारण अब वक्षस्थल पीड़ा में अन्तर आ गया है।

यदि कुम्भकरण की तामसी वृत्ति के बिना अपनाये मैं 6 महीने की बजाय 6 दिन भी आराम से सो लेता तो मेरे रोग का बहुत कुछ शमन हो जाता किन्तु आत्मा के नाते 'स्थाणुर चलोऽयं सनातनः' होता हुआ भी शरीर और मन से चंचल ही रहना पसंद करता हूं। खाने का संयम भी सन्दल घिसने के सर दर्द से कम नहीं है। इसलिए वह भी वाजिवी मात्रा में ही सम्भव है।

मेरे रोगों की गणना में अभी विराम चिन्ह नहीं लगा है। दृष्टि-मान्ध का रोग तो पहले ही से था, अब एक आंख में मोतियाबिन्दु (Cataract) हो जाने से वह कुछ उग्र हो गया है। गनीमत इतनी ही है कि पढ़ने-लिखने के कार्य में बाधा नहीं पड़ी हैं। रक्तचाप के कारण पढ़ने-लिखने में कमी आ गई है, नेत्रों के कारण नहीं। हां मैं दूरदर्शी नहीं हूं इसके कारण दूर के मनुष्य को चश्मा लगाकर भी पहचानने में कुछ कठिनाई पड़ती है। मैं किसी को न पहचानने की अशिष्टता नहीं करना चाहता। इसलिये जहां जरा-सा भी सन्देह हुआ कि सामने का मनुष्य मेरा जाना-पहचाना है, मैं मुलजिम की भांति उसे शुभा का लाभ देकर

उसे नमस्कार-प्रणाम कर लेता हूं। पचास प्रतिशत मेरा अनुमान ठीक निकलता है। तीस प्रतिशत जान-पहचान बढ़ी-चढ़ी होने के कारण प्रणाम वृथा नहीं जाता। (अनुमान तो गलत सिद्ध होता है) , बीस प्रतिशत 'सियाराम मय सब जग जानी, करों प्रणाम जोर जुग पानी' के नाते अनजानों को भी प्रणाम हो जाता है।

मेरे रोगों की गणना तो अब भी निःशेष नहीं हुई है किन्तु आप लोगों का जी इस करुण कहानी को सुनते-सुनते ऊब गया होगा, इसलिए लोकानुग्रहकांक्षया मैं लेखनी को विराम देता हूं। अब मुझे न तो जीवन का बीमा कराना है न कहीं नौकरी की दरख्वास्त भेजनी है। इसलिये बिना संकोच के अपनी राम कहानी कह डाली। इन रोगों के होते हुए भी मैं जीवन-मृत्यु को न स्वीकार करूंगा। जब तक जीवन-दीपक में स्नेह है तब तक काम चलता ही रहेगा। 'यावत् तैल्यं तावद्व्याख्यानम्'।

*****

प्रभुजी मेरे औगुन चित न धरो

सूर और तुलसी की भांति मैं यह तो नहीं कह सकता कि मेरे दोषों को स्वयं माता शारदा भी सिन्धु की दवात में काले पहाड़ की स्याही घोलकर पृथ्वी के कागज पर कल्प-वृक्ष की कलम से भी नहीं लिख सकती। इतने भारी झूठ के मोल में दैन्य खरीदने की मुझ में सामर्थ्य नहीं है। बात यह है कि वे लोग तो कवि थे, उनकी अतिशयोक्तियां भी अलंकार बन जाती हैं। 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं।' महिम्न स्तोत्र के कर्त्ता विचारे पुष्पदन्ताचार्य[1] ने जो बात भगवान के गुणों के लिए कही थी—

> असित-गिरिसमं स्यात्कज्जलं सिंधु-पात्रे,
> सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
> लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
> तदपि तव गुणानामीश! पारं न याति।।

वही बात सूर और तुलसी ने अपने अवगुणों के लिए लिख दी। कवि जो भगवान की स्पर्द्धा कर सकता है, क्योंकि भगवान को भी कवि कहा गया है। 'कविं पुराणमनुशासितारम्।' लेकिन बेचारे गद्य लेखक की क्या ताव जो अपने छोटे मुंह इतनी बड़ी बात कह डाले। हां, फिर भी मुझ में अवगुण हैं और उनको मैं ही जानता हूं—सांप के पैर सांप को ही दीखते हैं—उनको शायद परमेश्वर भी न जानते हों; क्योंकि जहां तक मैंने सुना है, वे भले पुरुष हैं, पुरुषोत्तम हैं, और भले आदमी दूसरों के दोषों को स्वप्न में भी नहीं देखते और यदि देखते भी हैं तो सुमेरु-से दोषों को राई बराबर। बुराई उनकी कल्पना की पहुंच से बाहर है।

ख्याति की चाह को मिल्टन ने बड़े आदमियों की अन्तिम कमजोरी कहा है, लेकिन

1. शायद उनके दाँत बड़े-बड़े होंगे, नहीं तो उनका नाम होता कलिका या कीरक-दन्ताचार्य; लेकिन बड़े दांत वाला मूर्ख नहीं होता है, क्वचिद्दन्ती भवेन्मूर्खः। वे बेचारे ऐसे मुलायम दाँतों से खाते भी क्या होंगे—शायद दूध पीकर रहते हों।

शायद यह मेरी आदिम कमजोरी है, क्योंकि मैं छोटा आदमी हूं। यश-लोलुपता के पीछे दुःख भी काफी उठाना पड़ता है। ख्याति की चाह ही—जिसको मैं दूसरों की आंख में धूल झोंकने के लिए साहित्य-सृजन की अदम्य प्रेरणा कह दूं—मुझे इस समय जाड़े की रात में गद्दे-लिहाफ का संन्यास करा रही है। रोज कुआं खोद कर रोज पानी पीने की उक्ति सार्थक करते हुए मुझे भी कालेज के लड़कों को पढ़ाने के लिए स्वयं भी अध्ययन करना पड़ता है। उसकी सुध-वुध भूलकर और यमदूत नहीं तो कम-से-कम कंजूस कर्जख्वाह की भांति प्रूफों के लिए प्रातःकाल ही अपने अवांछित दर्शन देने वाले प्रेस के भूत (कम्पोजीटर) की मांग की भी अवहेलना करके, देश के दंगों के शमन और शरणार्थियों के पाकिस्तान से निष्कासन की भांति इस लेख को मैं चोटी की प्राथमिकता (top priority) दे रहा हूं।

आचार्य मम्मट ने काव्य के उद्देश्यों में यश को सर्वप्रथम (यह शब्द मुझे सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता का स्मरण दिलाता है) स्थान दिया है। काव्य यश से पहले और अर्थकृते पीछे (बस वह पीछे ही रखने की बात है, भूलने की नहीं) कहा था किन्तु आजकल जमाना पलटने में उसका क्रम भी पलट गया है। त्रेता-युग में लड़ाइयां भी यश के लिए ही लड़ी जाती थीं। रघुवंश में कविकुल-गुरु कालिदास ने कहा है 'यश से विजिगीपूणाम्' किन्तु आजकल विजय भी अर्थकृते ही की जाती है। फिर भी मुझ जैसा प्राचीन-पन्थी, 'चील के घोंसले में मांस' की भांति अर्थाभाव के होते हुए भी, यश-लोलुपता से पल्ला नहीं छुड़ा सका है। रेल की यात्राओं में यम-यातनाओं के कारण (कभी-कभी वे बहुत लम्बी यात्रा करा देती हैं) दूर के स्थानों की सभाओं का सभापतित्व करना छोड़ दिया है और उसके लिए मुझे इतना ही श्रेय मिल सकता है जितना कि वृद्धा वेश्या को सती होने का; किन्तु निकट के मथुरा, अलीगढ़ आदि स्थानों को कुछ आग्रह करने पर नहीं छोड़ता। स्थानीय सभाओं में, यदि वे निशाचरी वृत्तिवालों की न हों, तो गीता का काला अक्षर भैंस बरावर जानते हुए भी गीता तक पर व्याख्यान देने और अपने अल्पज्ञ श्रोताओं का साधुवाद लेने पहुंच जाता हूं। (अब तो शारीरिक शैथिल्य के कारण स्थानीय संस्थाओं में भी नहीं जाता।) काले अक्षर मेरे लिए भैंस बराबर ही हैं। वे मेरे लिए चन्द्रज्योत्स्ना-सा धवल यश और साथ ही कम-से-कम इस संसार में निरुपम, और यदि स्वर्ग तक पहुंच होती तो अमृतोपम, दुग्ध-धारा का सृजन कर देते हैं। कभी-कभी भैंस की भांति वे ठल्ल हो जाते हैं। दिमाग का दिवालियापन मैं सहज में स्वीकार नहीं करता और लोग करने भी नहीं देते। 'श्रवण-समीप' क्या सारे सर के बाल सफेद हो जाने पर भी, 'अंगं गलितं' तो नहीं, पलितं मुण्डं अवश्य और करीव-करीव 50 प्रतिशत 'दशनविहीनं जातं तुण्डम्' का (अभी 'कर-वृतकंपितशोभित-दण्डम्' की बात नहीं आई, दण्ड देने से मैं सदा वचता हूं, रामचन्द्रजी के राज्य में तो 'दण्ड जतिन कर' ही था, में यदि राजा होता तो उसका खरहे के सींगों की भांति अत्यन्ताभाव करा देता किंतु

खुदा गंजे को नाखून नहीं देता) वार्द्धक्य का अच्छे सेकिण्ड डिवीजन का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लेने पर भी, 'भज गोविन्दं भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढ़मते' की बात सोचकर लेखनी को विश्राम नहीं देता।

यश-लोलुप होते हुए भी नेतागीरी से कुछ दूर रहा हूं। लेखन-कार्य में तो चारपाई पर पड़े-पड़े भी यश-लाभ की जुगति लग जाती है; नेतागीरी में, खैर पैदल तो नहीं मोटर-तांगों में घूमना पड़ता है (रक्तचाप के कारण तथा धनाभाव के कारण वायुयान में बैठकर देवताओं की स्पर्द्धा नहीं करना चाहता, मनुष्य बना रहना मेरे लिए काफी है), गला फाड़ कर कभी-कभी बिना लाउडस्पीकर के भी व्याख्यान देना होता है, जाड़ों में भी शुद्ध खद्दर का बगुले के पंख से सफेद (बगुले की सफेदी के गुण की ही उपमा दी गई है) कुरते में ही संतोष करना पड़ता है और घर पर मक्खन टोस्ट उड़ाते हुए भी बाहर पार्टियों में चना-गुड़ खाने का त्याग दिखाना होता है। खैर, अब जेल जाने की बात नहीं रही।

उदारता तो कभी-कभी छाती पर पत्थर रख कर भी कर देता हूं किन्तु बिना अहसान जनाये नहीं रहता। जहाँ तक लक्षणा व्यंजना के साहित्यिक साधनों की पहुंच है उन सब का प्रयोग कर लेता हूं, फिर भी यदि कोई संकेत-ग्राही चतुर पुरुष न मिला तो यथासम्भव अभिधा से भी काम ले लेने की निर्लज्जता कर बैठता हूं। हां, इतनी बात अवश्य है कि मैं उपकृत का सम्मान बहुत करता हूं। उस पर अहसान जताते हुए उसमें हीनता का भाव उत्पन्न नहीं होने देता हूं। मुझे तुलसीदासजी की बात याद आ जाती है—'दान मान संतोष।' उपकृत मुझे बड़ा बनने का अवसर देता है। उसका मैं सदा आभार मानता हूं। अहसान जताने के लिए, जब हार्दिक ग्लानि नहीं होती है तब माफी भी मांग लेता हूं; एक जगह यह भी सुनने को मिला—'जूता मारकर दुशाले से पोंछने से क्या लाभ?'

जहां यश-प्राप्ति और धन-लाभ के साथ आलस्य का संघर्ष न हो, आलस्य शीर्षस्थान पाता है। साधारणतया मैं बाबा मलूकदास के—'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम, दास मलूका कह गये सब के दाता राम' वाले अमर काव्य का अपना आदर्शवाक्य बनाना चाहता हूं और इस प्रवृत्ति के कारण संतोषी होने का श्रेय भी ले लेता हूं किन्तु इस युग में बिना हाथ-पैर पीटे काम नहीं चलता, 'नहिं सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।'

मेरी स्वार्थ-परायणता मेरे आलस्य और आराम-तलबी पर सान चढ़ा देती है, फिर शारीरिक शैथिल्य ने तो आलस्य का प्रमाण-पत्र दे दिया है। मैं अपने पास-पड़ोसी या सम्बन्धी के प्र-प्र-पितामह का भी मरना नहीं चाहता। उसमें मानवता की मात्रा तो वाजिबी ही है, किन्तु उस शुभकामना का असली उद्देश्य यह होता है कि श्मशान तक न जाना पड़े। जहां स्वार्थ-साधन की बात न हो वहां बड़ी-से-बड़ी भव्य बात भी फीकी पड़ जाती है। सरल

साहित्य-सेवियों की मण्डली में, जहां मुझे कुछ ज्ञान-प्राप्ति की भी संभावना नहीं होती, मैं भी उन लोगों की बातों में रस लेने का अभिनय-सा कर देता हूं। कभी-कभी मेरी उदासीनता प्रकट हो जाती है। मैं पक्का उपयोगितावादी हूं किन्तु मेरा स्वार्थ से संघर्ष हो तो मैं दूसरे के स्वार्थ को मुख्यता देता हूं। मैं हमेशा यह चाहता रहता हूं कि भगवान कहीं से छप्पर फाड़कर दे दें, किन्तु दुर्भाग्यवश मेरे मकान में कोई छप्पर नहीं है और मैं, धन के लिए भी, अपने मकान की छत तोड़ना नहीं चाहता। इसीलिए शायद गरीब हूं। चुपड़ी और दो-दो की बात नहीं हो सकती।

मान-मद तो मुझे में नहीं है फिर भी बड़े आदमियों द्वारा अपमान को सहन नहीं कर सकता हूं। गरीब आदमी द्वारा किया हुआ अपमान मैं महर्षि भृगु की लात की भांति सहर्ष स्वीकार कर लेता हूं क्योंकि वह बिना किसी कसम के या बिना किसी हीनता ग्रन्थि के सहज में दूसरों का अपमान नहीं करता। क्रोध भी मैं अपने से बड़ों पर ही करता हूं। छोटों पर दिखावटी क्रोध भी नहीं करता। द्वेष तो मैं किसी से नहीं करता-'बनिया जिसका यार, उसको दुश्मन क्या दरकार?' इसका अर्थ मैं यह लगाया करता हूं कि बनिये का इतना सद्व्यवहार होता है कि उसे और उसके मित्रों तक के कोई दुश्मन नहीं होते। (जब यह कहावत बनी थी तब ब्लैक मार्केट नहीं थे) हां, ईर्ष्या अवश्य होती है। जब दूसरे लोगों को, जो मेरे साथी थे, मोटरों पर चलता देखता हूं और मैं स्वयं धूप निवारण करने के लिए सर पर कोट डाल कर सड़क पर बिना द्रुमछाया के भी विश्रम्य-विश्रम्य चलता हूं तब ईर्ष्या अवश्य होती है और सोचता हूं कि मुझे भी कुछ अधिक साहसी, उद्योगी और थोड़ा-वहुत बेईमान भी वनना चाहिए था। बनिए लोग वैसे तो फौज में जाते हैं, कप्तान और कर्नल बनते हैं और उन्होंने इस कलंक को धो डाला है कि 'कहा जानै वणिक-पुत्र गढ़ लैबे की बात।' अब उन पर यह कलंक नहीं किया जाता कि 'संस्कारात् प्रवला जातिः' अथवा 'यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नोसि गजस्तत्र न हन्यते' फिर भी 'आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च' में और गुणों के साथ भय मुझमें प्रचुर मात्रा में है। इसे मैं पहले गिनता हूं। गीता पर व्याख्यान देते हुए मैं चाहे वड़ी डींग के साथ कह दूं कि अभयं को दैवी सम्पत्ति में पहला स्थान दिया गया है किन्तु यह 'पर उपदेश कुशल' की बात है। निर्भयता की हिन्दू-मुसलमान दंगों में काफी परीक्षा हो गई है। उन दिनों घर के दुर्ग के बाहर नहीं निकला। सरकार से मोर्चा लेने की बात मैंने कभी सोची भी नहीं क्योंकि जब जेल जाने के लिए प्रभु ईसा-मसीह की भांति ईश्वर से प्रार्थना करनी पड़े कि 'या खुदा आफत का प्याला मुझ से टाल' तो फिर उस राह जाने से ही क्या काम? और जिस राह नहीं जाता उसके पेड़ भी नहीं गिनता। पुलिस को धोखा देने में मजा अवश्य आता है; बुद्धि के चमत्कार पर गर्व करने को भी मिलता है, किन्तु वह कम-से-कम महात्मा गांधी के अर्थ में, बहादुरी नहीं कही जाती है। मुझ में न

इतना साहस है और न इतना शारीरिक बल कि रात-बिरात खाई-खन्दकों में घूमता फिरूं और फिर जेल में घर का-सा आराम कहां? (बैरागी बाबा तुलसीदासजी को राम-नाम के उपमान के लिए घर से बढ़कर उपमान नहीं मिला 'सुखद अपनो सो घर है') मैं कांग्रेस जनों की बुराई करते हुए भी, गांधीजी की भांति चार आने का मेम्बर न होता हुआ भी और लोगों के आग्रह करने पर गांधी-टोपी को पूर्णतया न अपनाने पर भी, और जेल जाने का प्रमाण-पत्र न प्राप्त करते हुए भी, कांग्रेस के आदर्शों का परम भक्त हूं। इस बात को शायद पिछली सरकार के सामने भी स्वीकार करने को तैयार था। कभी-कभी अपने मित्रों से कांग्रेस के पक्ष में लड़ाई भी लड़नी पड़ती हैं, किन्तु फिर भी निर्भयता का गुण नहीं अपना सका हूं। जीवधारियों की शेष कमजोरियां भी मुझ में उचित सीमा के भीतर वर्तमान हैं। अन्तिम को मेरी अवगुणों की सूची में अन्तिम ही स्थान मिला है। उसको मैं मानसिक रूप देने का ही गुनहगार हूं क्योंकि मनोभाव का उचित स्थान मन में ही है। 'नेत्र-सुखं केन वार्यते' के सिद्धान्त को मैं मानता हूं। किन्तु गंजे के नाखून की भांति नेत्र की ज्योति भी ईश्वर की दया से मन्द ही है। नेत्र के पाप से भी यथासम्भव बचा ही रहता हूं। किन्तु मानसिक दृष्टि मन्द नहीं हुई है। उस दिन को मैं दूर ही रखना चाहता हूं जब मनमोदकों से भी वंचित हो जाऊं।

आहार को पण्डितों ने पहला स्थान दिया है किन्तु मैं उसे भय के पश्चात् दूसरा स्थान देता हूं। आहार जीवन की आवश्यकता ही नहीं वरन् जींवन का आनन्द भी है। डॉक्टरों की कृपा से कहूं, या रोगों के प्रकोप से कहूं, आहार का आनन्द बहुत सीमित हो गया है। फिर भी नित्य ही पाचन-शक्ति के अनुकूल थोड़ा-वहुत भाग मिल जाता है। काव्य से अधिक 'सद्यःपरनिर्वृतिः' भोजनों में मिलती है। उपवास में विश्वास रखते हुए भी मैं एकादशी-व्रत तब तक नहीं रखता जब तक छप्पन प्रकार के व्यंजन नहीं तो कम से कम एकादश प्रकार के भोज्य पदार्थों के मिलने की सम्भावना न हो।

दोपहर का भोजन तो भर पेट कर लेता हूं उसमें तो मैं अपने नवयुवक बन्धुओं से बाजी ले जाता हूं (आजकल यह ठीक नहीं है)। सायंकाल को आधे पेट ही सोता हूं; गरीब भारत की आधे पेट सोने वाली जनता की सहानुभूति में नहीं, और न अर्थाभाव में, किन्तु आटे में वर्तमान शक्कर की मात्रा को पचाने वाले पैन्क्रियस (Pancreas) के रस अभाव के कारण। उस अभाव की पूर्ति मैं इन्स्यूलिन के इन्जेक्शनों से कर लेता हूं। अन्धकार की भांति मेरा शरीर भी सूचीभेद्य है और जैसा मैंने अन्यत्र लिखा है, मेरे शरीर में जितनी सुइयां लग चुकी हैं उतने वाण भीष्म पितामह की शर-शय्या में भी न होंगे।

मिष्ठान्न को मैं यथा सम्भव संन्यास करता हूं किन्तु दूध के साथ शर्करा का वियोग कराना मैं पाप समझता हूं। शरीर और शक्कर के जोड़े में एक का विच्छेद करने से मुझे

क्रौंच-मिथुन की बात याद आ जाती है और भय लगता है, कोई वाल्मीकि जैसे करुणार्द्र-हृदय ऋषि मुझे भी शाप न दे दें कि 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समः'। लेकिन शक्कर इतना ही डालता हूं जितना दाल में नमक डाला जाता है या किसी आजकल के सभ्य-समाज में बिना आत्म-सम्मान खोये कोई झूठ बोल सकता है। मिठाई मैं मोल लेकर बहुत कम खाता हूं क्योंकि मैं आफत मोल नहीं लेता। अच्छे भोजन का मैं लोभ संवरण नहीं कर सकता। मैं किसी के निमंत्रण का तिरस्कार नहीं करता किन्तु मर्यादा का ध्यान अवश्य रखता हूं। फिर भी रोग-मुक्त नहीं हो पाता हूं क्योंकि डाक्टरों की बांधी हुई सौमित्र रेखा का मान करने में मैं असमर्थ हूं। दावतों में जाकर अपनी अन्तरात्मा को धोखा देने के लिए 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्ध त्यजति पण्डितः' के न्याय से अपने पास बैठने वाले सज्जन को मिठाई का अर्द्धांश समर्पित कर देता हूं किन्तु क्या रक्खूं या क्या दूं के निर्णय का भार मैं अपने ऊपर ही रखता हूं। 'परान्नं प्राप्य दुर्बुद्धे! मा शरीर दया कृरु' के सिद्धांत को मैं भूल जाने का प्रयत्न करता हूं और इसीसे मैं बचा हुआ हूं।

जब मैं न बातें करता हूं और न पढ़ता हूं। तब सोना ही चाहता हूं। इसीलिए मैंने अपने ठलुआ क्लब का समर्पण सुख-दुख की अपनी चिरसंगिनी परम प्रेयसी शैया-देवी को किया है। रियासत में रहकर मुझ में दो ही विलासिताएं आयी हैं, एक दिन में सोने की और दूसरे धूप में न चलने की। धूप-निवारण के लोभ से ही मैं कांग्रेस के राज्य में भी कोट को इस तरह साथ रखता हूं जिस तरह बन्दर अपने मरे हुए बच्चे को। रात को सोने ही के प्रेम के कारण मैं सिनेमा देखने, ताश खेलने आदि, दुर्व्यसनों से बचा हुआ हूं। मैं उन लोगों में से नहीं हूं जो रात भर जाग कर 'या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' की भगवान कृष्ण की उक्ति को सार्थक करते हैं।

लोग मुझे धार्मिक समझने की मूर्खता करते हैं और बड़ी श्रद्धा से धर्म-चर्चा करते हैं। मैं यथासम्भव उनका स्वप्न भंग नहीं करता। ऐसे श्रद्धालु लोगों को सन्तुष्ट करना कठिन नहीं होता है। धार्मिकता की विडम्बना किये बिना मैं उनकी बातों का यथामति उत्तर दे देता हूं। उत्तर देकर यदि दाताओं की सूची में मेरा नाम आ जाय तो "बचने किं दरिद्रता?"

मैं अधार्मिक या अत्याचारी नहीं हूं। मैं गोस्वामी तुलसीदास के इन वचनों में कि 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई' सवा सोलह आना विश्वास करता हूं पर इतना धर्म-भीरु भी नहीं कि जो पाप के नाम से डरूं। झूठ भी, जैसे ईद-बकरीद जुलाहा पान खा लेता है, मैं बोल ही लेता हूं, अर्थलाभ के लिए तो नहीं किन्तु मान-मर्यादा की रक्षा

के लिए। कभी बेवस होकर विना टिकट के रेल में सफर भी कर लेता हूं किन्तु उसका पश्चाताप नहीं होता। पकड़ा न जाऊं तो उस बेबसी के किये हुये पाप को सहज में भूल जाता हूं किन्तु तांगे वाले को कम पैसे देने में अवश्य दुःख होता है।

चोरी में बड़ी चीज की नहीं करता, किन्तु छोटी चीज की कभी-कभी कर लेता हूं। वह पाप भी चीज की पसंद पर न्यौछावर कर देता हूं। कभी-कभी अच्छी पुस्तकें जिनकी संख्या एक हाथ की अंगुलियों पर की जा सकती है, मैंने चुरा ली हैं; वह भी उनके यहां से जिनके यहां मैंने आतिथ्य स्वीकार किया। उसमें एक कीथ महोदय का संस्कृत ड्रामा है। वह भी मुझ-सा सहृदय मुझसे मांगकर लौटाना भूल गया है। अपरिग्रह अर्थात् त्याग मैं जरूरत से ज्यादा नहीं करता हूं। मैं दुनिया में और लोगों की भांति आराम चाहता हूं, कुछ-कुछ वैभव भी, किन्तु दूसरों को सताकर नहीं। जिस तरह लोग कला को कला के लिए अनुशीलन नहीं करते वैसे मैं धन का अनुशीलन नहीं करता, फिर भी धन के लोभ-लालच से मैं परे नहीं हूं। धन मेरे लिए साधन है, साध्य नहीं है।

इन सब अवगुणों के होते हुए भी मैं परेशान नहीं हूं। जब तक कोई आफत सर पर न आ जाय मैं भगवान से भी दया की भिक्षा नहीं मांगता, किसी दूसरे से भी मांगने में मुझे लज्जा नहीं आती, किन्तु मैं मनुष्य के एक बार नहीं करने पर या मौन हो जाने पर दुवारा नहीं मुंह खोलता। मैं पूजा पाठ सौन्दर्योपासना के रूप में मन को खुश कर लेने के लिए भोजनों की प्रतीक्षा कर लेता हूं। लोग कहते हैं 'भूखे भजन न हो गोपाला' किन्तु मैं भूख में ही भजन करता हूं। मुझे धूप की गन्ध बड़ी अच्छी लगती है। विना मंत्रों के ही कभी-कभी हवन कर लेता हूं। भक्ति-भावना से नहीं, वरन् नाद-सौंदर्य के कारण कभी देवताओं के स्तोत्र मंत्र पढ़ लेता हूं। और कभी-कभी जल्दी में गीता के 'पितासि लोकस्य चराचरस्य' के साथ भर्तृहरि के श्रृंगार-शतक के भी श्लोक 'विश्रम्य-विश्रम्य वनद्रुमाणां छायासुतन्वी विचचार काचित्' या कालिदास के मेघदूत या शकुन्तला के 'तन्वी श्यामा शिखर-दशना' वाला श्लोक पढ़ जाता हूं। इसके लिए मैं स्वर्ग से विमान आने की प्रतीक्षा नहीं करता। मेरा धर्म स्वांतःसुखाय है। मेरी सौंदर्य उपासना में सौंदर्य के साथ विचार और भाव-सौंदर्य तथा कर्म-सौंदर्य भी लगा हुआ है। इन तीनों की अलग-अलग साधना है जो वहुत कुछ रुचि और संस्कारों पर आश्रित है। यद्यपि मुझमें कर्म सौंदर्य की आस्वादशक्ति कुछ कम अवश्य है तथापि दूसरों के सत्कर्म से प्रभावित हुये विना नहीं रहता। मैं स्वयं न भक्त हूं और न कर्मवीर फिर भी मैं उनकी सराहना किए विना नहीं रहता। श्लाघा करने में कुछ पैसा नहीं

लगता। 'वचने किं दरिद्रता।'

और कुछ न लिख सकने के कारण मानसिक दरिद्रता की आत्म-ग्लानि निवारण करने के लिए मैंने ये आत्मस्वीकृतियां लिख दी हैं, नहीं तो अपना भरम न खोलता, बौद्धों में तथा रोमन-कैथोलिकों में पापों की आत्मस्वीकृति विधिवत् की जाती है और उसकी गणना पुण्य-कार्यों में होती है। मुझे मालूम नहीं कि इस पुण्य का क्या फल मिलेगा। इतना तो बहुत है कि इस आत्म-स्वीकृति में जितना आत्म-विज्ञापन है उसे जनता उदारतापूर्वक क्षमा कर दे।

*****

परिशिष्ट-1

चोरी : कला के रूप में

नाम बुरो पै अधीन न काहू के,
चोरी भली न भली सेवकाई।

—मृच्छकटिक के अनुवाद सं

जब मैं एम.ए. में पढ़ता था उस समय मेरा विषय तो दर्शन-शास्त्र था लेकिन जौक या गालिब की शराब की भांति गाहे-गाहे (कभी-कभी) मुंह का जायका बदलने के लिए या यों कहूं कि मस्तिष्क को काण्ट के क्रिटीक से, जिसका अध्ययन लोहे के चने चबाने से कुछ कम न था, विश्राम देने के लिए मांगी हुई या कबाड़िये से खरीदी हुई अंगरेजी साहित्य की पुस्तकों में चन्चु-प्रहार कर लेता था। ऐसी ही किसी किताब में जो शायद कोई निवन्ध-संग्रह था डीक्विन्सी का Murder is a Fine Art शीर्षक लेख जिससे हत्या को कला का रूप दिया गया था मेरी निगाह से गुजरा। उसकी भाषा राजपथ की भांति सुगम न थी, इस कारण किसी फुर्सत के लिए उसे चलतू खाते से बाहर उन पुस्तकों के साथ, जो बेचारी अलमारी में पड़ी-पड़ी 'कबहू दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान' की आशावादियों को भी लज्जित करने वाले धैर्य के साथ मेरी सुदृष्टि की बाट जोहा करती थीं, रख दिया। किन्तु उस पुस्तक के सम्बन्ध में कान पर जूं न रेंगा। जूं रेंगता भी क्यों? ईश्वर की कृपा से धनी न होता हुआ भी मुझमें धनियों का विशेष गुण (सर पर बाल न होना) मौजूद था 'क्वचित् खल्वाट् निर्धनः'। पं० रामनरेश त्रिपाठी के मत से यह गुण बावा तुलसीदासजी में भी था क्योंकि उन्होंने कहीं लिखा है कि पितरों के पिण्डों के साथ उनके स्थान में रखने के लिए सर में बाल भी नहीं हैं। वैसे तो तुलसीदासजी अपनी दीनता दिखाने में ऐसी दूर की हांका करते हैं किन्तु मुझे सन्तोष है कि कम से कम इस एक बात में तो उनकी बराबरी कर ही सकूंगा।

इस विषयान्तर को क्षमा कीजिये क्योंकि तुलसीदासजी की भावों में न सही तो अभावों से बराबरी करने का मोह संवरण न कर सका। अस्तु वह लेख पढ़ा तो नहीं लेकिन उसके शीर्षक ने मेरे हृदय में स्थान पा लिया। उस समय मैं साहित्यिक चोरी की कला में बहुत

प्रवीण तो न था लेकिन इरादा यह कर लिया कि इसका कभी लाभ उठाऊंगा। उसको जैसे के तैसे हथियाने में चोरी सहज में प्रकट होने का भय तो था ही किन्तु एक और आपत्ति थी। मैं हिन्दू हूं 'हिंसया दूयतेऽपि हिन्दू।' इसके अतिरिक्त मेरे पूज्य पिताजी ने वैष्णव धर्म की कुछ मूल शिक्षाओं को मेरे मस्तिष्क में चीनी औषधि के विज्ञापन की भांति कील ठोक-ठोकर कर भर दिया था। फिर 'अहिंसा परमोधर्मः' मानने वाले जैनियों के सत्संग से वह शिक्षा उसी प्रकार पक्की हो गई जैसी हाइपो सोल्यूशन में पड़ फोटोग्राफी की नैगेटिव प्लेट 'करेले और नीम चढ़े' की सी वात से भी ज्यादा पक्की हो गई। बनिया और हत्या को कला का रूप दे, राम, राम! सारी आत्मा विद्रोह करने लगी।

चित्तचोर और माखन चोर भगवान श्रीकृष्ण की, जिनको विष्णु सहस्रनाम में 'चोर जारशिरोमणि' कहा है, भक्ति के कारण मुझे चोरी को कला का रूप देना कुछ अपेक्षाकृत निरापद जंचा क्योंकि धन की चोरी तो शायद नहीं, विचारों की चोरी किया ही करता हूं। वैसे भी आचार्य राजशेखर ने बनियों को कवियों की श्रेणी में रखते हुए कह दिया है वणिक लोग अचौर नहीं होते हैं। 'नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्य चौरो वणिग्जनः।'—काव्य मीमांसा

मैं दुर्भाग्यवश दोनों ही वर्गों में आता हूं लेखक के नाते कवि भी हूं और बनिया होने का जन्म सिद्ध अधिकार है। यद्यपि चोरों की संज्ञा में रखे जाने से स्वाभिमान को ठेस लगती है और कभी-कभी मन में आता है कि स्वर्ग की अदालत में उनके ऊपर मान-हानि का दावा कर दूं, तथापि कुछ तो स्वर्ग जाने के भय से और कुछ आचार्यों की बात को आदर करने की उदार दृष्टि से (करीब-करीब उसी दृष्टि से भगवान रामचन्द्रजी ने नागपाश की मर्यादा रखने के लिए उस बन्धन को स्वीकार किया था) मैंने इस आरोप को स्वीकार किया और 'जाति धर्म' के पक्ष में लिखने का निश्चय किया।

यदि किसी को जेल जाने की सामर्थ्य हो तो चोरी के बराबर कोई दूसरा पेशा नहीं क्योंकि इसमें सरकार की भी मदद रहती है, वह हमेशा जेल भेजकर प्रतिद्वन्द्वियों को कम करती रहती है। वकालत की तरह वह पेशा कभी अति भीड़ (over crowdness) के रोग से ग्रसित नहीं होता। सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि चोरी की आय पर Income Tax की बाधा नहीं।

इस कला में यह विशेष गुण है कि इसके अनुयायियों को प्रचंड मार्तण्ड की प्रखर रश्मियों के आघात से बचे रहने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। धूप से रंग काला पड़ जाने का भय भी नहीं रहता। अमा निशा की शीतल-मेचक छाया माता की भांति रक्षा करती है। 'रैनि माय सी मोहि अंग लावति' और सहज में ही संयम का परम स्पृहणीय पद प्राप्त हो जाता है। 'या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'। अगर माल हाथ लगा तो कुछ

दिन मौज से खाया और यदि पकड़े गये तो सम्मानपूर्वक जेल की चहार-दीवारी में सुरक्षित रहकर मशक्कत और पसीने की कमाई खाई। वहां न तो कोई जरिये माश पूछेगा, और न कोई भिखमंगा कहेगा। इस पेशे के लोगों को कभी दूसरों के आगे दीन होकर हाथ नहीं पसारना पड़ता। 'मांगिवो भलो न बाप सों, जो विधि राखे टेक।' मांगकर करे तो क्या? मांगे से कुछ मिलता भी नहीं और ईमानदारी करने में कभी-कभी ऊने के दूने देने पड़ते हैं।

बाबा तुलसीदासजी को भी सज्जनता का कटु अनुभव हुआ होगा, तभी तो उन्होंने लिखा है 'सीदत साधु साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसत खलई है' फिर कोई ऐसे कण्टकमय मार्ग का क्यों अनुसरण करे जिसमें सीदना पड़े? चोरी की आमदनी को न चोर का भय और न चंदे का।

चोरी को कला का रूप देने में मैं अकेला नहीं हूं। संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध नाटककार महाकवि शूद्रक हम लोगों का पथ-प्रदर्शन बहुत पूर्व ही कर चुके हैं। उन्होंने अपने मृच्छकटिक नाटक में शर्विलक के मुख से चोरी को कला का ही रूप दिलाया है। शर्विलक बड़ा कलाप्रिय हैं वह सेंध लगाने में भी तो अपनी कलाप्रियता नहीं छोड़ता है। वह नपी तुली ज्योमित आकारों की भांति चित्रोपम सुडौल सेंध लगाता है जिससे कि सुबह के समय सेंध देखने वाले उसकी कला की प्रशंसा करें, देखिए—

"तो कहां से सेंध फोडूं (भीत छूकर) नित सूर्यनारायण के अर्घ का पानी पड़ते-पड़ते यहां की मिट्टी खुद सी गई है और चूहों ने यहां कुछ खोद-सा डाला है, अब काम हमारा सिद्ध हो गया। स्कन्द देवता के पुत्रों की सिद्धि का पहला लच्छन यही है। तो अब कैसे सेंध फोडूं। कनकशक्तिजी ने चार रीतियां सेंध फोड़ने की कही हैं—पक्की ईंटों को खींच लेना, कच्ची को काट देना, गोंदे को भिगो देना और काट को काट डालना। तो यह पक्की भीत है एक ईंट हटाऊं—

खिले कमलसम, कूप सरिस, नवचन्द्र अकारा।
स्वस्तिक, पूरनकुम्भ, सूर्य सम सन्धि प्रकारा।।
खोदि सेंधि मैं प्रकट करौं अपनी चतुराई।
भोर देखि जेहिं चकित होयं सब लोग लुगाई।।"

(श्री अवधवासी भूपकृत मृच्छकटिक नाटक के भाषानुवाद से)

चोरी में बल और विद्या दोनों से ही काम चलता है। आजकल के चोर तो सेफ गलाने के लिए आक्सी-हाइड्रोजन फ्लेम भी साथ ले जाते हैं। खैर, पुराने जमाने का शार्विलक कहता है—

बल विद्या दोऊ संघ लगाई। तन प्रमान निज सेंध बनाई।।
सरकत चलौ धसत निज अंगा। कैचुल छांड़त मनहुं भुजंगा।।

यह चोर दीपक-बुझाने के लिए कीड़ा साथ रखता है और घर के लोग सोते हैं या जागते हैं इसकी परीक्षा इस प्रकार करता है—

"चलत बराबर सांस नहीं शंका कछु लागे।
मुंदी आंखि नहीं सिथिल भाव पुतरी निज त्यागे।।
ढीलो परो शरीर कछू शैया के बाहर।
दीप सहै नहिं, सौंह करै सोवत छल जो नर।।"

अब अपने मित्र शार्विलक की एक गर्वोक्ति भी सुन लीजिए—

"झपटा के मारन में चील्ह के समान हम,
जल्दी जल्दी भागिवे में मृग सों न कम हैं।
सोये जो चीन्ह लेत कूकुर की नाई नित,
बिल्ली के से पांय मेरे चलत नरम हैं।।
माया रूप धारन में सांप से हैं सरकन में,
देस भाषा जानन में बानी के सम हैं।।
संकट में डुडुम, तुरंग हैं सुथल पर,
जल बीच नाव, राति दीपक हू हम हैं।।

गिरि सम थिर, भाजन भुजंग, झपटत में हम बाज।
पकरन वृक, इत उत लखन, शश, बल महं मृगराज।।

लड़ाई के जमाने में साह लोग भी चोरी का पेशा अपना लेते हैं क्योंकि वे ही चोर बाजार में रमण करते हैं। चोर लोगों के साथ ही वे भी जनता के इस विश्वास को सार्थक करते हैं कि लक्ष्मीजी का शुभागमन अमावस्या की कुहू निशा में होता है। ब्लेक मार्केट शब्द हिन्दू धर्म की मुक्त कण्ठ से गवाही देता है। हमारे ऋषि मुनि त्रिकालदर्शी थे। अंधेरी रात चोरों की मां नहीं तो धातृ अवश्य पायी जाती है।

साह और चोर दोनों ही लक्ष्मी के कृपापात्र होने के कारण उनके वाहनराज उलूक की भांति घने अंधेरे में देख सकते हैं। अन्तिम छोर मिल जाते हैं Extreme meet की सार्थकता इससे बढ़कर क्या हो सकती है? पाश्चात्य विश्वास से मिनर्वा (Minerva) जो सरस्वती का प्रतिरूप है, का भी वाहन उलूक है। पण्डित लोग भी जहां किसी को कुछ नहीं सूझता अपनी दृष्टि से देख लेते हैं। उलूक शब्द बुरा नहीं है। आचार्य प्रवर केशवदासजी ने उलूक को रामचन्द्रजी का उपमान बतलाया है, देखिए—वासर की सम्पदा उलूक ज्यों न

चितवत। केशव के भक्त मुझे क्षमा करें।

सभी लोग चोरों की भांति दूसरों के अज्ञान आलस्य और असावधानी से लाभ उठाते हैं। व्यापारी लोग भी तभी लाभ उठाते हैं जबकि दूसरे लोग घर बैठे ही दुनिया की वस्तुओं का उपभोग करना चाहते हैं और घर में अन्न जमा न करके मूषक सैन्य के आक्रमणों से बच कर सुख की नींद सोना चाहते हैं। डाक्टर लोग भी मुक्ताहार-विहार के नियम के न पालन करने वालों से लाभ उठाते हैं। बेचारे चोर भी असावधान लोगों की सुख-निद्रा की कीमत वसूल करने के लिए आ जाते हैं। फिर वे परिपक्व कलाकार की भांति ऐसी हाथ-पैर की सफाई दिखाते हैं कि चोरी का निशान भी नहीं छोड़ते और जासूसों ओर खुफिया पुलिस के लोगों की बुद्धि को चक्कर में डाल देते हैं। चोरी के नये-नये ढंग निकालने में वे किसी आविष्कारक से कम नहीं होते। चोर वेदान्तियों और यमदूतों की भांति बड़े-छोटे का भेद नहीं करते हैं। स्वयं मेजिस्ट्रेटों के यहां चोरी करके चिराग तले अंधेरे की लोकोक्ति को सार्थक करते हैं। रूस की यात्रा से लौटे हुए तथा दर्शनार्थ आई हुई अपार जनता की गर्वोल्लसित ललचाई दृष्टियों के केन्द्रबिन्दु हमारे लोकप्रिय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के अंगरक्षक भी नेहरूजी के रुपयों को एक जेवकतरे के आक्रमण से सुरक्षित न रख सके। चोर लोग धन को ऊंची जमीन से नीचे धरातल पर लाने में सच्चे साम्यवादी का काम करते हैं। इस साम्यवादी कला को शतशः एवं सहस्रशः नमस्कार है।

*****

परिशिष्ट-2

कम्पोजीटर-स्तोत्र

देवाधिदेव! जिन आदि कारण स्वरूप भगवान का कभी क्षय अर्थात् नाश नहीं होता, जिनके तेजोमय गर्भ से चराचर अखिल विश्व का उदय होता है और जिनके अनन्त वक्षःस्थल में स्थित रह कर वह प्रलय की शान्त निद्रा में मग्न हो जाता है, वे ही अक्षर ब्रह्म 'छछिया भर छाछ' के बिना ही आपके अंगुल्याग्र भाग में सदा नृत्य करते रहते हैं। जब आप उन्हें उठाते हैं, तब वे उठते हैं और जब और जहां आप बैठाते हैं तब और तहां वे बैठ जाते हैं। वे पूर्णतया आपके शासन में बंधे हैं। वे आपके आदेश के बिना टस-से-मस नहीं होते। आपके ही कारण वे भव-सागर के बन्धनों की भांति फर्मे के बन्धन में पड़ते हैं।

अब आप डिस्ट्रीब्यूटर (Distributer) रूप से उनको अपने करपल्लव में धारण कर 'गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ स्वस्थाने सुखी भव' का मन्त्र पाठ कराते हैं, तब वे अक्षर भगवान प्रसन्नतापूर्वक कबूतरखाने से केस के खानों में अपने-अपने स्थान को प्राप्त हो विराजमान हो जाते हैं। धन्य है आपका प्रभावपूर्ण शासन! धन्य है आपका विश्वव्यापी आतंक! वैसे तो क्षीरसागर भी आपके कर-नखाग्रों से सदा प्रवाहित होता रहता है। (क्योंकि संसार में बेपढ़ों की संख्या बहुत है, और उनमें से प्रत्येक के लिये काला अक्षर भैंस बराबर होता है), तथापि आपके कर-पल्लवों में नृत्य करने वाले अक्षर भगवान घोर तप के कारण शेष-शैया के स्थान में अव्यक्त रूप से तप्त सीसा (Lead) शय्या पर शयन करते हैं। वे व्यक्त होकर 'नियतिकृति नियम-रहितां' ब्रह्मा की सृष्टि नियमों से परे रहने वाली रुचिर रचनाओं की सृष्टि करने लग जाते हैं। आपकी रची हुई सृष्टि ब्रह्मा की सृष्टि का शासन करती है। विचारों से ही संसार चलता है, और आपके बिना विचारे विचार मूक और पंगु पड़े रह जाते हैं।

विश्व-सूत्रधार! विश्व का शासन आप ही के वश में है। विश्व की राजनीति और धर्मनीति समाचार-पत्रों और धर्म-ग्रन्थों के अधीन है, और वे सब आपके अधीन हैं। तस्मात् कम्पोजीटराधीनं जगत्। अतः विश्व-शासक, जगत-नियन्ता, राष्ट्रों के विधायक, धर्म के रक्षक और पोषक आपको शतशः, सहस्रशः, लक्षशः, कोटिशः नमस्कार है।

भगवन्! आप भुवनभास्कर सूर्य रूप हैं! नहीं, नहीं, आपका कार्य सूर्य से कहीं वढ़कर है। 'जहां न जाय रवि, तहां जाय कवि' और आप उस कवि के भी हृदय-कुहर की गुप्तातिगुप्त भावनाओं को प्रकाश में लाते हैं। भगवान मरीचमालिन सूर्यदेव के पार्थिव अवतार प्रकाशकगण बड़े दैन्य भाव से आपका मुख जोहते रहते हैं। वे आपकी फुर्सत की सदा प्रतीक्षा करते हैं। आपके आगे मैनेजर का जर और एडीटर की टरटर कुछ नहीं चलती। आपके हाथ पैर चलाने से ही सब का काम चालू होता है।

प्रभो! बिना आपकी कृपा-कटाक्ष के स्वयं हंसवाहिनी सरस्वती के वात्सल्य भाजन मूक बने रहते हैं। मूक को आप वाचाल बनाते हैं। आप ही की कृपा के बल पर साधारण प्रतिभा वाले भी प्रोपेगेन्डा की नसैनी लगा कर यश के उच्चतम शिखर पर पहुंच जाते हैं और आपका प्रेस न जाने कितने दोषियों को निर्दोष बना देता है।

मूक होहि वाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन,
जासु कृपा सु दयाल, द्रवौ सकल कलिमल दहन।

आप ही वीणापुस्तकधारिणी भगवती शारदा की वीणा के तारों को मुखरित और झंकरित करते हैं। आप ही अपने विशाल विद्युत-विनिन्दत क्षिप्र और चंचल कर-पुटों द्वारा देश-विदेश में वाग्देवी का विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर देते हैं। आपके कर पल्लवों से निकली हुई बात पत्थर की लकीर से भी दृढ़ हो जाती है। वह ब्रह्माक्षरों की भांति अमिट होकर आत्म प्रमाण की श्रेणी में परिगणित होती है।

दयानिधे! आप लेखकों के जीवन-प्राण हैं। आप उनके एकमात्र वरण, शरण्य और वरेण्य हैं। आप प्रेस के भूत का लोकोपकारी स्वरूप धारण कर लेखकों के लेख-सम्बन्धी ज्ञान से किये हुए, अथवा अज्ञान से किये हुए समस्त पापों को अपने सुविशाल स्कन्धों पर धारण कर उनको व्याकरण की हत्या के अपवाद से मुक्त कर देते हैं। आप अपने प्रेस की अमिट कालिमा से लेखकों का मुख उज्ज्वल कर देते हैं। अपने बलिदान से दूसरों का भार हलका करना इसी को कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी दिव्यदृष्टि से आप ही को लक्ष्य कर नीचे की चौपाइयां लिखीं थीं।

साधु चरित शुभ सरिस कपासू। निरस विशद गुणमय फल जासू।।
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बन्दनीय जेहि जग यश गावा।।

भक्तवत्सल! आपके कहां तक गुण गाऊं? आप ही लक्ष्मी और सरस्वती का वैमनस्य थोड़े-बहुत अंश में दूर कर देते हैं। आपके अप्रतिभ आतंकवश वे अपने स्वाभाविक विरोध को भूल जाती हैं।

योगिराज! आप वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्म की भांति संसार के मूल कारण होते हुए भी सदा निर्लिप्त और अविकृत रहते हैं। आप 'पद्मपत्र-मिवाम्भसि' (जल में कमल के पत्ते) की उक्ति क़ो पूर्णतया चरितार्थ करते हैं, संसार के लड़ाई-झगड़े, शुभ और अशुभ संवाद, प्रेलाप और तीव्रातितीव्र व्यंग्बाण, पण्डितों का पाण्डित्य और मूर्खों का मूर्खत्व आपकी अनन्त शान्ति को विचलित नहीं कर सकता। सब कुछ आपके करतलगत हो जाने पर भी आप जैसे के तैसे शुद्ध-निर्लिप्त बने रहते हैं। आप शान्ति के स्वरूप और उदासीनता के अवतार हैं। आपके निरपेक्ष स्वरूप को बारम्बार नमस्कार है।

भगवन्! आपकी सीसे से सुदृढ़ गुणगरिमा का कहां तक गान करूं? आपके कर-पल्लवों से जितने समाचार-पत्र, पुस्तकें, पुस्तिकाएं, विज्ञापनादि निकले होंगे, वे कई बार पृथ्वी को आवेष्टित कर लेंगे। वे सब अनन्त जिह्वा होकर उच्च स्वर से आपका गुणगान करते हैं। वास्तव में आपका कीर्ति-पत्र उर्वी (पृथ्वी) से कई गुना विस्तृत है, और उसे स्वयं शारदा माता कल्पना के कल्पतरु की लेखनी द्वारा लिखती रहती है, 'तदपि तवगुणानामीश पारं न याति'।

देवेश! यह तुच्छ जीव आपसे क्या मांगे, यदि आप प्रसन्न होकर मुझे कुछ वर देना ही चाहते हैं, तो उदारतापूर्वक यह वर दीजिए कि जो कोई समाहित चित्त होकर मेरे बनाये हुए स्तोत्र को दिन में एक बार भी पाठ किया करेगा, उसको तीनों काल में समालोचकों की बाधा न व्यापेगी। ओऽम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।। इति

*****

परिशिष्ट-3

मेरे नापिताचार्य

मैं जन्म से वैष्णव हूं। सभामध्ये ही नहीं, वरन् अन्तःक्ररण से भी वैष्णवता का पालन करता हूं। जैनी मेरे पड़ोसी और मित्र हैं। खद्दर और चर्खा छोड़ कर, जिनको मैं पहले अंग्रेजी राज्य में भयवश और अब आलस्यवश नहीं अपना सका, महात्मा गांधी का अनन्य भक्त हूं। इस प्रकार मैं करेला और नीम चढ़ा ही नहीं, वरन् त्रिधाशुद्ध 'अहिंसा परमोधर्मः' का अनुयायी हूं। इसलिए रक्तपात से चाहे अपना हो या पराया, मैं सदा बचा रहा हूं। मधुमेही होने के कारण मुझे अंगक्षतों के सदोष हो जाने की सदा आशंका बनी रहती है, इसलिए भौतिकी विवशता को धर्म मानकर मैं अपने को रक्तपात से बचाये रखने की ओर विशेष ध्यान रखता हूं। इसी भय से साम्प्रदायिक झगड़ों के पास नहीं फटकता। फिर भी जब मैं आधुनिक सुशिक्षित लोगों के अनुकरण में 'स्वयंसेवक' वृत्ति को धारण किए हुए था और 'स्वयंदासास्तपस्विनः' की श्रेणी में आने के लिए प्रयत्नशील रहता था, तब मैं अपने को स्वरक्तपात से नहीं बचा सका। अभी तक अखबारी विज्ञापनों का नित्य स्वाध्याय और पारायण करने पर भी मेरी जानकारी में ऐसा कोई अकौशलोपेक्षक सुरक्षापूर्ण और यन्त्र नहीं आया है, जो मुझ जैसे मूर्ख और अकार्यकुशल व्यक्ति को चुनौती दे सके। रक्तपात के भय से ही वैदिक लोग मुण्डन संस्कार से पूर्व छुरे की प्रार्थना किया करते थे। जिलेट से लगाकर ढाई आने तक के उस्तरों को मैंने आजमाया, किन्तु वे मुझे अपने रक्तपात से बचाने में उतने ही असमर्थ रहे, जितनी कि यू.एन.ओ. की सुरक्षा परिषद् राष्ट्रों को रक्तपात से वचाने में। वाल वीरवधूटी-सी एक आध रक्तविन्दु मेरे मुखमण्डल पर झलक ही आती थी और मेरे शरीर में रक्तकोप मेरे वैंक के धनशेप से अधिक सम्पन्न नहीं है। इसलिए अपने सेफ्टीरेजर का उत्तराधिकार अपने द्वितीय पुत्र को, जो डाक्टर है, प्रसन्नतापूर्वक सौंप दिया है। 'अन्तहु तोहि तजेंगे, पामर तू काहे न तजै अब ही ते' के गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा प्रतिपादित वैराग्यपूर्ण उपदेश को मैंने कम से कम एक वस्तु के सम्बन्ध में सवा सोलह आने रूप में अपना लिया है।
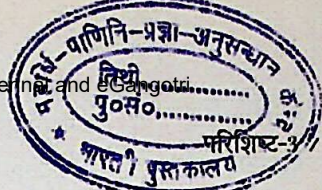
मैं उन स्वच्छतावादियों में से नहीं हूं जो अपने मुखमण्डल पर एक रात की उपज को सहन नहीं कर सकते। और चाणक्य की तत्परता से नित्यप्रति उसका मूलोच्छेदन करते हैं। मैं चेहरे की वास्तविक स्याही की अपेक्षा अलंकारिक स्याही से बचने की अधिक चेष्टा करता हूं। अव तो भगवान ने वालों की क़ालिमा को भी दूर कर दिया है। भगवान की विना परिश्रम की देन को यदि मैं अपने खालसा भाइयों की भांति सर माथे रख कर अपनाता नहीं हूं, तो उसका अत्यन्त तिरस्कार भी नहीं करता। मौत की भांति मैं नाई की बला को टालता रहता हूं और यदि स्वीकार भी करता हूं तो आपत्ति धर्म के रूप में।

मेरे नापित महोदय श्री बेनीरामजी से मेरा वहुत पुराना परिचय है—कम से कम तब तक का जब कि मैं सेकेण्ड ईयर में पढ़ता था। वे भी मेरी तरह से अर्द्ध प्राचीनतावादी जिजमानी वृत्ति करने वाले नाइयों में से हैं। नाई शब्द अरबी में भी है। वहां वह मौत की खबर लाने वाले का बोधक है। शायद अरब के लोगों को यहां के लोगों की अपेक्षा क्षौर-कार का कम काम पड़ता है, इसीलिए उसके नाम से ऐसे अशुभ संस्कार लगे हुए हैं। हमारे यहां तो वह जन्म की मंगलदूब भी लेकर आता है। मालूम नही हमारा नाई शब्द अरवी के नाई की सन्तान है अथवा उसका जन्म संस्कृत 'नापित' से 'न' और 'त' के लोप से हुआ है। हमारे वेनीरामजी जब दूसरे, चौथे, आठवें दिन अतिथि की भांति दर्शन देते हैं, तब वे प्रातःकाल ही अपने मस्तक पर स्नान-ध्यान कर लेने का चन्दन-कुंकुम का मंगलमय प्रमाण-पत्र लेकर आते हैं और अपने शुद्ध संस्कृत 'नापित' से नाम व्युत्पत्यार्थ (स्नापितः अर्थात् स्नान कराया हुआ, क्योंकि पूर्व काल में क्षौर कर्म कराने से पूर्व नाई को नहला लिया जाता था) शब्दशः सार्थक करते हैं। मालूम नहीं पुराने जमाने के लोगों को नाइयों से क्या बैर था; जो यह लोकोक्ति प्रसिद्ध हो गई—नराणां नापितो धूर्तः पक्षिणां च वायसः।' हमारे नापितदेव तो अपनी सज्जनता से इस कथन को शश-शृंगवत मिथ्या और अप्रामाणिक सिद्ध कर देते हैं।

भूतभावन भगवान शंकर जिस प्रकार स्वयं दिगम्बर, विरूप और कपाली रहकर भी दूसरों को श्री और सम्पदा प्रदान करते हैं, ठीक उसी प्रकार वेनीरामजी अपने बाल बढ़ाए रखकर भी दूसरों के मुखमण्डली पर पालिश द्वारा उनकी श्री वृद्धि किया करते हैं। कभी-कभी जब किसी पार्टी आदि में जाना होता है तो वे भगवान के वरदान स्वरूप 'करुणा में वीर रस' की भांति उपस्थित हो जाते हैं और कभी वे मास-पखवारे की गणना को अपने मन से बिलकुल भुला देते हैं।

मेरे नापितदेव न तो वामन ही हैं और न विशालकाय। मेरी बुद्धि की भांति वे भी मध्य श्रेणी के हैं, और कुछ लघुता की ओर झुके हुए हैं। उनका छोटे अण्डाकार शीशों वाला, डेढ़ कमानी का चश्मा उनके गाम्भीर्य और बार्द्धक्य को बढ़ाता रहता है। जैसे मैं अपनी

पोशाक की व्यवस्था सम्हालने में असमर्थ रहता हूं, वैसे ही वे अपनी पेटी की व्यवस्था सुधारने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि वह पेटी उनके स्वरूपानुरूप है। पेटी का आवरण-पट जो बाल कटाने वाले यजमानो के बालों की बाण-वर्षा से सुरक्षित रखने में रक्षा-कवच बनता है, साबुन के प्रयोग से उतना ही अछूता रहता है जितना कि आजकल का विद्यार्थी भगवन्नाम से। उसको स्वच्छ रखने के उपदेश उनके ऊपर उतना ही प्रभाव रखते हैं जितना कि 'कामी वचन सती मन जैसे' फिर भी मैं उनका स्वागत करता हूं। क्योंकि वे मुझे स्व-रक्तपात से बचाये रखते हैं। बाल तो (कान नहीं) ये बड़े-बड़े आदमियों के भी काटने का गौरव रखते हैं। बड़े-बड़े आदमी भी रुपया बचाना चाहते हैं। नाई की दुकान पर जाने में उनकी शान घटती है। अच्छे नाई को घर पर बुलाने में जेब कटती है। हां! तो बेनीरामजी बाल काटने में अपने को किसी से कम नहीं समझते। किन्तु उस क़ला में उनकी गति उतनी ही है जितनी कि मेरी बंगला बोलने में (बंगाल पहुंच जाऊं तो भूखा-प्यासा नहीं मरूंगा)। उनकी बाल काटने की कला में मुझे इससे अधिक योग्यता की आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि भगवान ने मुझे निर्धनी रखकर भी खल्वाट बना रखा है। किन्तु जब कभी छठे-छमाहे किसी प्रकार वे मुझको बाल कटाने को राजी कर लेते हैं तो आधे घण्टे तक पीछा नहीं छोड़ते। मेरे अवकाश अभाव की वात को इतना ही समय समझते हैं जितना कि लेखक लोग लौटाए हुए लेख पर 'स्थानाभाव के कारण सधन्यवाद वापस' के हृदयद्रावक सम्पादकीय नोट को।

साधारण शेव में भी बेनीरामजी कलाकार का कर्तव्य और उत्तरदायित्व निभाना चाहते हैं। एक बार के शेव में उनको सन्तोष नहीं होता। वे सच्चे क़र्मयोगी हैं, जब तक मन भर कर अपनी कला का प्रदर्शन न कर लें तब तक वे अपने को कृतकार्य नहीं समझते। पैसे से उनको मतलब अवश्य रहता है, किन्तु यजमान की इच्छा के विरुद्ध भी जब तक काम पूरा न कर लें, तब तक वे अपने को कर्तव्यच्युत समझते हैं। भले आदमी की जबान की भांति मैं शेव भी दो बार नहीं चाहता, किन्तु मेरे नापित महोदय इसको मेरी सबसे बुरी आदत समझते हैं। कभी-कभी मुझको उनकी बात से सन्तोष होने लगता है कि यदि मुझमें सबसे बुरी आदत यही है तो वास्तव में मैं भला आदमी हूं। जब कभी उनका उस्तरा भौंहों की साज-सम्हाल की ओर अपने आक्रमणकारी पग बढ़ाता है, तब समय के उस दुरुपयोग पर मुझे सात्विक क्रोध आ जाता है और भगवान से 'त्राहि माम्! त्राहि माम्' की पुकार कर मैं प्रार्थना करने लगता हूं कि 'हे ईश्वर, मुझे ऐसे कर्तव्यपरायण कलाकारों से परित्राण दे। वे इस क्रोध को सच्चे तपस्वी की भांति क्षमा कर देते हैं। 'क्षमा रूपं तपस्विनाम्।'

अपनी जाति के अन्य व्यक्तियों की भांति वे भी चलते-फिरते समाचार पत्र हैं और चूंकि मैं कोई स्थानीय पत्र नहीं खरीदता, मैं उनकी इस वृत्ति का स्वागत करता हूं। विशेषकर

साम्प्रदायिक झगड़ों के दिनों में उनकी यह सेवाएं बहुमूल्य थीं।

मैं चाहता हूं कि उनमें कुछ सुधार हो, किन्तु वे चर्चिल की भांति अपरिवर्तनवादी हैं। 'जैसे कारी कामरी चढ़े न दूजो रंग'। मैं भी उनको अपने दोषों की भांति 'अंगीकृत सुकृतिनः परिपालयन्ति' के न्याय से अपनाए हुए हूं। मुझसे जिजमान तो उनके लिए बहुत से हैं किन्तु मुझे इतना सुलभ नाई कठिनता से मिलेगा। वे मुझे राजामण्डी तक के यातायात के कष्ट और नाई के सैलून की प्रतीक्षा की झंझट से बचाये रखते हैं। इसीलिए उनमे सफाई की अव्यवस्था होते हुए भी कविकुल-गुरु कालिदास की 'एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांक' वाली बड़ों-बड़ों की कलंकमोचनी उक्ति के आधार पर मैं उस अवगुण की उपेक्षा कर देता हूं और निस्संकोच मैं उनसे कह देता हूं कि 'हमसे तुमको बहुत हैं तुमसे हमको नाहिं।'

(नोट—मुझे अत्यन्त खेद है कि वे अब स्वर्गवासी हो गए। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे। अब उनका स्थान श्री सुम्हेरसिंह ने ले लिया है। वे अपने ही पेशे में माहिर नहीं हैं बल्कि इल्म तैराकी में भी इक्तां हैं। वे थोड़ा-बहुत दखल इल्म मौसीकी में भी रखते हैं। लोक गीत उनका विशेष विषय है। उनके पूज्य पिताजी तैराकी में खलीफा पद से विभूषित थे किन्तु वे आलस्यवश ही इस वंशानुगत पद को प्राप्त नहीं कर सके। वे अपनी श्रेष्ठता बनाए रखने के कारण यजमानी वृत्ति से यथासम्भव बचते हैं। वे जमींदारी और कुलीनता के पक्षपाती और छुआछूत मिटाने के प्रबल विरोधी हैं। सरकार की आलोचना करने में बहुत से वामपक्षी अखबारों के भी कान काटते हैं)।

*****
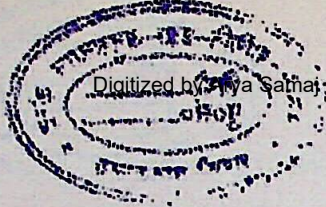
परिशिष्ट-4

सत्तरवीं वर्षगांठ पर

पर्व वैयक्तिक भी होते हैं और सामाजिक भी। वर्ष गांठ एक वैयक्तिक पर्व है। किन्तु उसमें भी थोड़े अंश में सामाजिकता वर्तमान रहती है। इसी सामाजिकता के कारण वर्षोत्सव घोर अहंवादी होते हुए भी क्षम्य हो जाते हैं। इसी क्षम्यता का क्षीण आधार लेकर मैं दस वर्ष से अपना जन्मदिवस मनाता हूं कठिनाइयों और बाधाओं के होते हुए, जिनका कि मैंने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है, ईश्वर की कृपा से वाइबिल में बताई हुई मनुष्य की आयु को मैंने पार कर लिया है और उसके लिए मैं हृदय से अनुग्रहीत हूं। क्योंकि साठ वर्ष के पश्चात् मैं एक-एक दिन को ईश्वरीय देन समझता हूं। अब 'जीवेम् शरदः शतम्' के वैदिक आदर्श को कहां तक पूरा कर सकूंगा इसको वेदों का कर्त्ता ईश्वर ही जाने। मैं तो पन्द्रह का पहाड़ा पांच तक पढ़ लेने मे अपने को कृताकार्य समझूंगा। मैं चाहता हूं कि जब तक जीऊं तब तक 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' की उक्ति चरितार्थ करूं क्योंकि कुछ करना ही जीवन है।

मैं साहित्य में तो रसवादी हूं ही, इन्द्रियों में भी रसना का आस्वाद तीव्रतम है किन्तु उसी अनुपात मे पाचन क्रिया मन्द है। रसना की लोलुपता और पाचन क्रिया के बीच की रेखा निकालने को मैं सदा प्रयत्नशील रहता हूं। भूतभावन विरुपाक्ष के नेत्रों की संख्या की रोटियां खाकर मैं परवश तृप्ति का अनुभव करने लगता हूं। सायंकाल को इसकी भी आधी मात्रा रह जाती है! जहां इस आदि, मध्य और अवसान वाली अपावन संख्या का अतिक्रमण हुआ वहां रात्रि की विश्रामदायिनी निद्रा से विदा लेनी पड़ती हैं। नेत्रों का सहज, निरापद और प्रायः व्ययहीन सुख भी कुछ मन्द पड़ गया है। चश्मा सहारा देता है किन्तु उतनी मात्रा में जितनी कि विदेशी सहायता भारत के आर्थिक संकट को दूर करने में। नेत्रों के पड़ोसी कान कुछ-कुछ अभिज्ञान और पंठन-पाठन में सहारा दे देते हैं, गति मन्द है और सीमित भी। सुबह की मेरी दौड़ नए राजामण्डी स्टेशन तक रहती है। उसके बाहर ही मेरी गति रुक जाती है और स्टेशन शब्द सार्थक हो जाता है। मैं मर्यादावादी लोगों की भांति सीमा
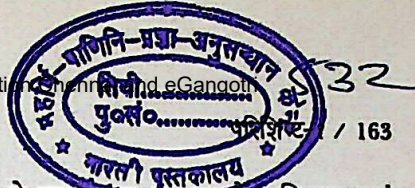
का उल्लंघन नहीं करता। इसलिए आवारा होने से बचा रहता हूं। इसको अभिशाप कहूं या वरदान किन्तु जब मैं अपने से अधिक आयु वाले लोगो को निर्द्वन्द्व भाव से विचरते देखता हूं तो तव उनके प्रति मात्सर्य भाव जागरित हो जाता है। अपनी मन्द गति से रुष्ट होकर डाक्टरों की असमर्थता पर आक्रोश होता है और स्पूटिनिक की सफलता में शंका होने लगती है। मनुष्य मशीन को अमित गति दे सकता है और जीवित मनुष्य को उससे वंचित रखता है। फिर भी मैं उन डाक्टरों का जो विष और शराव को भी अमृत बनाकर तीनों का सहजात बन्धुत्व सिद्ध करते हैं, अनुग्रहीत हूं। उनकी औषधियां काम करती हैं। उनके बल पर जीवन रथ चल रहा है—सीमित मात्रा में खाने और पढ़ने-लिखने का आनन्द तो ले ही लेता हूं। मर्यादा के खूंटे से वंधा हुआ वैदिक आज्ञा 'चरैवेति-चरैवेति' का चरते रहो अर्थ लगाकर मैं चलता ही रहता हूं। मेरा चरन (चलना और चरना)दिनों में ही सीमित रहता है। मैं निशाचरी वृत्ति से वचता हूं।

इतना सब होते हुए भी मैं सुखी नहीं हूं। मुझे अर्थ का अभाव नहीं है और स्वास्थ्य भी इतना खराव नहीं कि जीवन दुर्वह हो गया हो। शैया का स्पर्श सुखद होते हुए भी उसका और पीठ का संयोग नदी और नाव संयोग से भी कुछ कम मात्रा का नौका-यात्री सम्बन्ध ही रहता है। ईश्वर न करे वह संवाय सम्बन्ध वन जाय। प्रकाशकों की कृपा से मेरी आय वेशुमार तो नहीं क्योंकि आज के वैज्ञानिक युग में तारों की भी गणना सम्भव मानी गई है, बेहिसाब अवश्य है। उसका हिसाब तभी होता है जव वह खर्च हो जाती है और इनकम टैक्स का नक्शा वनता है। लोग कहते हैं कि प्रकाशकों ने मेरा शोषण किया है। जब मैं अपने स्वास्थ्य की ओर देखता हूं तब तो यह वात सवा सोलह आने ठीक लगती है, और यह अनुभव करता हूं कि लेखक रुपयों के बदले में अपना क्या कुछ नहीं देता। किन्तु शोषण में किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं है। उससे मुझे धन और ख्याति प्राप्त करने का अवसर मिला है लेखन-कार्य ने मेरे जीवन का भार हल्का करने में सहायता की है। लेखन से ही मेरा जीवन सरस और सम्पन्न वना। 'काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'। मेरे जीवन में जो हास्य-व्यंग्य की मात्रा है उसने दुखद अनुभवों को भी सुखद वना दिया है। मेरी दार्शनिकता भी सामंजस्य तथा क्षतिपूर्ति के नियम की ओर ले गई है। जीवन में हानि-लाभ का लेखा-जोखा बराबर होता रहता है। जहां अभाव है वहां भाव भी है और जहां भाव है वहां अभाव भी है। मैं सर्वगुण निधान नहीं हूं। अच्छा हुआ पत्रों में सर्वगुण निधान लिखने की प्रथा जाती रही। मुझ में कमजोरियां और बुराइयां हैं और भलाइयां भी हैं। मैं चाहता हूं कि मेरा मूल्यांकन मेरी समग्रता में हो। मैं भी दूसरों का मूल्यांकन समग्रता में करना सीखा हूं। इसीलिए दूसरों से मेरी अनबन कम होती है। मेरे जीवन-दर्शन में दूसरों के दृष्टिकोण को महत्व मिला है।

मैं संघर्ष को आवश्यक समझते हुए भी (क्योंकि बिना संघर्ष के पहिया आगे नहीं बढ़ता) संघर्ष से यथासंभव बचना चाहता हूं। संघर्ष के विरोध में भी संघर्ष करने से डरता हूं। स्वजनों के सम्बन्ध में तो गोस्वामीजी का यह सिद्धांत 'जे पर पांय मनाइए तिनसो रूठ विचार' सदा याद रखता हूं।

ज्ञान के मन्दिर में मैंने बेचारे अछूतों की भांति सत्य की कुछ दूर से ही झांकी पाई है। उसके आगे मैं सदा नतमस्तक रहा हूं। बुधजन सकाशात् जो कुछ सीख सका हूं उसने मुझे मदान्धता के जसर से बचाए रखा है। यद्यपि मैंने पर्याप्त साहित्यिक मान पाया है। तथापि मैं अपनी न्यूनताओं से भली प्रकार अवगत हूं। सांप के पैर सांप को ही दीखते हैं। मैंने दूसरों की कृतियों की सराहना की है। और इसलिए मैंने अपने अल्पज्ञान को एक वरदान ही समझा है। इस अल्पज्ञान के कारण मैं दूसरों के थोड़े से कृतित्व की अवहेलना नहीं कर सका हूं। इसी के कारण मैं उन भूल-भुलैयों और पेचीदगियों से बचा रहा हूं जो दूसरों को चक्कर में डाल देती है। मैं मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए ही लिख सका हूं। इसीलिए मेरा साहित्य लोकप्रिय हुआ है।

मुझे प्रसन्नता है कि जिस हिन्दी की मैंने आजीवन सेवा की है वह उपेक्षा और विरोध सहती हुई भी फल-फूल रही है। जहां-जहां उसको प्रोत्साहन मिला है वहां उसने अपनी कार्य-क्षमता प्रमाणित की है। मुझे अपने अतीत पर श्रद्धा है और नवीन पीढ़ी पर विश्वास है। जनसाधारण में यद्यपि इतनी जागृति नहीं है जितनी कि होनी चाहिए तथापि जो जाग्रत हैं वे काफी उन्नत हैं। हिन्दी भी अपने साधनों के अनुकूल पर्याप्त उन्नति कर रही है।

अंग्रेजी में जो दो सौ वर्ष में उन्नति हुई है उसको हिन्दी के दस या पन्द्रह वर्ष के उन्नति काल में न देखकर निराश होना हिन्दी के साथ अन्याय करना होगा। हिन्दी में उपयोगी साहित्य की कमी अवश्य है। वह क्रमशः दूर हो रही है। उसके लिए पर्याप्त प्रोत्साहन और अवसर की आवश्यकता है। इसका सरस साहित्य किसी साहित्य से पिछड़ा नहीं है। शोध-कार्य सन्तोषजनक गति से चल रहा है। राजपथों पर कार्य हो ही रहा था अब गलियों और पगडण्डियों के भी नए मार्ग प्रशस्त किये जा रहे हैं। संस्कृत और अन्य भाषाओं का साहित्य भी अब हिन्दी में अवतरित होता जाता है। यदि हम लोग राष्टीय-दृष्टि से साहित्य-निर्माण का कार्य करते रहे तो वह दिन दूर नहीं कि हिन्दी अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकेगी। यद्यपि मैं उस शुभ दिन को निकट लाने के प्रयत्नों में स्वयं असमर्थ हूं तथापि मुझे वह शुभ दिन आते हुए देखकर अत्यन्त प्रसन्नता होगी। मुझे अपने जीवन में अपने मित्रों और स्वजनों का आदर, स्नेह और सहानुभूति मिली है, उसके लिए मैं आभारी हूं।

शिवरात्रि, सं० 2014 —गुलाबराय

बाबू गुलाबराय

"पहली ही भेंट में उनके प्रति मेरे मन में आदर उत्पन्न हुआ था, वह निरन्तर बढ़ता ही गया। उनमें दार्शनिकता की गम्भीरता थी परन्तु वे शुष्क नहीं थे, उनमें हास्य-विनोद पर्याप्त मात्रा में था, किन्तु यह बड़ी बात थी कि औरों पर नहीं अपने ऊपर हंस लेते थे।"

—राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त

"बाबूजी ने हिन्दी के क्षेत्र में जो बहुमुखी कार्य किया, वह स्वयं अपना प्रमाण आप है। प्रशंसा नहीं, वस्तुस्थिति है कि उनके चिन्तन, मनन और गम्भीर अध्ययन के रक्त-निर्मित गारे से हिन्दी-भारती के मन्दिर का बहुत-सा भाग प्रस्तुत हो सका है।" —पं. उदयशंकर भट्ट

"जितना मैंने उनके व्यक्तित्व का निरीक्षण किया उससे मुझे ज्ञात हुआ जैसे कोई हीरा हो जो बेष्ठन में लिपटा हो। उनका जीवन ऊपर से तो बहुत सादा था किन्तु आन्तरिक ज्योति थी जो कि उनसे बातचीत करने पर प्रस्फुटित होती थी। उनमें इतने गुण और विशेषताएं थीं कि ऐसा लगता था मानों वे हमसे कुछ सीखना चाहते थे। किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है—वे तो हमारे गुरु थे। ऐसे महान व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से व्यक्ति अपने को गौरवान्वित अनुभव करता था और उनसे मिलकर एक अपूर्व सुख का अनुभव होता था। उनमें कृत्रिमता बिल्कुल नहीं थी।" —डॉ. माताप्रसाद गुप्त

"आदरणीय भाई बाबू गुलाबराय जी हिन्दी के उन साधक पुत्रों में से थे, जिनके जीवन और साहित्य में कोई अन्तर नहीं रहा। तप उनका सम्बल और सत्य स्वभाव बन गया था। उन जैसे निष्ठावान, सरल और जागरूक साहित्यकार विरले ही मिलेंगे। उन्होंने अपने जीवन की सारी अग्नि परीक्षाएं हंसते-हंसते पार की थीं। उनका साहित्य सदैव नई पीढ़ी के लिए प्रेरक बना रहेगा।" —महादेवी वर्मा

"गुलाबराय जी आदर्श और मर्यादावादी पद्धति के दृढ़ समालोचक थे। भारतीय कवि-कर्म का उन्हें भलीभांति बोध था। विवेचना का जो दीपक वे जला गये उसमें उनके अन्य सहकर्मी बराबर तेल देते चले जा रहे ैं, और उसकी लौ और भी प्रखर होती जा रही है। हम जो अनुभव र हैं—जो अस्वादन करते हैं वही हमारा जीवन है।"

—पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र

वोये हुए, दुनिया को अधखुली आंखों से देखते हुए, साहित्यिक आलंब, साहित्यकारों को हास्यरस के बन्धकार, बड़ों के बन्धु और छोटों के सखा बाबू र प्रणाम!" —डॉ. रामविलास शर्मा